जन संचार मे स्नातक पाठ्यक्रम

द्वितीय वर्ष

समाजशास्त्र

बी एम सी 106

गुरु जम्भेश्वर विश्वविद्यालय, हिसार।

विषय सूची

क्रम संख्या

ब्लाक ए यूनिट 1

1 समाजशास्त्र की प्रकृति और विषय

2 समाजशास्त्र और अन्य समाज विज्ञान

ब्लाक ए यूनिट 2

3 समाज, समुदाय, समूह और संस्था

ब्लाक बी यूनिट 1

4 परिवार, विवाह और नातेदारी

5 जाति एवमं वर्ग

ब्लाक बी यूनिट 2

6 सामाजिक परिवर्तन : अवधारणा, प्रक्रियाएँ और कारक

लेखकः प्रो0 एम एल गोयल ।

गोंर्वमेंट कॉलेज, हिसार ।

वैटरः प्रो0 बी के कुठियाला ।

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र ।

सिम शैली में परिर्वतनः श्री मिहिर रंजन पात्र ।

वरिष्ठ व्याख्याता, गुरु जम्भेश्वर विश्वविद्यालय, हिसार।

जन संचार मे स्नातक पाठ्यक्रम – द्वितीय वर्ष

समाजशास्त्र – बी एम सी 106

खण्ड अ इकाई एक पाठ संश्या 1

समाजशास्त्र की पकृति और विषय वस्तु

लेखकः प्रो0 एम एल गोयल ।

गोंर्वमेंट कॉलेज, हिसार ।

वैटरः प्रो0 बी के कुठियाला ।

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र ।

सिम शैली में परिर्वतनः श्री मिहिर रंजन पात्र ।

वरिष्ठ व्याख्याता, गुरु जम्भेश्वर विश्वविद्यालय, हिसार।

अध्याय संरचनाः

इस अध्याय में हम समाजशास्त्र का परिचय प्राप्त करने के लिए उसके विविध पहलुओं का अध्ययन करेंगे। समाजशास्त्र की विविध अवधारणाओं पर विशेष जोर दिया जाएगा। समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति व लक्षणों के बारे में अध्ययन करेंगे। इस अध्याय की संरचना इस प्रकार रहेगीः

1.0 उद्देश्य

1.1 परिचय

1.2 विषय वस्तु की प्रस्तुति

1.2.1 समाजशास्त्र – एक परिचय

1.2.2 समाजशास्त्र की परिभाषा

1.2.3 समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति व लक्षण

1.3 सारांश

1.4 सूचक शब्द

1.5 स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1.6 संदर्भित पुस्तकें

1.0 उद्‌देश्यः

इस अध्ययाय के उद्‌देश्य इस प्रकार हैंः

- समाजशास्त्र का परिचय पाना
- समाजशास्त्र की कुछ परिभाषाओं के बारे में जानना
- समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति व लक्षणों के बारे में जानना

1.1 परिचयः

समाजशास्त्र की गति अनुसंधान के क्षेत्र में संचयी है। अगस्ट कॉम्ट से चला हुआ समाजशास्त्र, संस्थापक विचारकों से गुजरता हुआ, मर्टन और पारमंस से होता हुआ पियरे बोर्दियों, दरीदा और हेबरमास तक पहुँच गया है। उसकी यही संचयी प्रकृति उसे विज्ञान बनाती है।

वह समय था जब विचारक कहते थे कि समाजशास्त्र किसी भी विशुद्ध विज्ञान की तरह तथ्यों की पारदर्शिता को बताता है लेकिन जब प्राकृतिक विज्ञानों ने तकनीकी आविष्कारों द्वारा समाज के विकास या विध्वंस को निर्धारित करना तय किया, तक समाजशास्त्र ने भी समाज के विकास के लिये अपनी उपयोगिता को निश्चित किया। विज्ञान द्वारा तकनीकी ने आज दुनियाँ में एक मीडिया समाज का निर्माण किया है। इसी लहजे में

समाजशास्त्र भी विश्वव्यापीकरण जैसे प्रयासों में प्रयत्नशील है। अब यह विज्ञान क्या है से आगे बढ़कर समाज के लिए क्या किया जा सकता है और समाज किस ओर जा रहा है।

इस अध्याय में हम समाजशास्त्र की अवधारणा, कुछ परिचायक पहलू व समाजशास्त्र की कुछ परिभाषाओं पर चर्चा करेंगे।

1.2 विषय वस्तु की प्रस्तुतिः

इस अध्याय में विषय वस्तु की प्रस्तुति कुछ इस प्रकार रहेगीः

- समाजशास्त्र – एक परिचय
- समाजशास्त्र की परिभाषाएं
- समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति व लक्षण

1.2.1 समाजशास्त्र – एक परिचयः

समाजशास्त्र की परिभाषा और उसके अर्थ पर कुछ भी चर्चा करने से पहले यह बहुत स्पष्ट रुप में कहना चाहिए कि इस समाजविज्ञान की कोइ एक निश्चित परिभाषा नही है, कई तरह की परिभाषाएँ दी जाती हें । कोई सामाजिक इसे व्यव्स्था का अध्ययन कहता है और कोई इसे तार्किकय प्रयोगात्मक कहता है, और कोई इसे वृहत रुप में सम्पूर्ण समाज का अध्ययन मानता है । यदि समाजशास्त्र के अर्न्तगत ली जाने वाली विषयवस्तु का विश्लेषण करें तो ऐसी वस्तुओं का अम्बार लग जायेगा ।

कभी–कभी तो ऐसा लगता है, कि इस धरती पर जो कुछ है, सभी का अध्ययन समाजशास्त्र करता है, यह एक अनिश्चित और अस्पष्ट स्थिति हे, प्राकृतिक विज्ञानों के क्षेत्र में ऐसी कोई भ्रान्ति नही हें, यह कभी नही होता कि भौतिकशास्त्र का विधार्थी रसायनशास्त्र की विषयवस्तु का विश्लेषण करे ।

इस विज्ञानो मे विभाजन की निशचित रेखाएँ है । रुचिकर बात यह है कि इन परिभाषाऔं मे कहीं बूनियादी साम्यता नही होती । समाजशास्त्र के अर्थ के झेत्र में यह कठिनाई वास्तविक है, कोई मिथक नही ।

यह सब कहकर हम नही बताना चाहते कि समाजशास्त्र को परिभाषित करना कठिन है । यदि हम विहंगम दूंष्टि से समाजशास्त्र मे उपलब्ध विषयवस्तु का विश्लेषण करें तो इस निष्कर्ष पर पहुचेंगे कि इस समाजविज्ञान में एक निश्चित संदर्श है ओर यह संदर्श ही इस की सीमाओं को निश्चित करता है, यह भी तय है कि केवल कुछ परिभाषााएं ही समाजशास्त्र के अर्थ को सुस्पब्ट नही करती । वास्तव में इसकी व्याख्या निश्चित संदर्भ स्थान ओर काल से बंधा होता है । इस अध्याय मे हम समाजशास्त्र की परिभाषा और विषयवस्तु की व्याख्या परंपरागत दृष्टि से नही करेंगे । आज विज्ञान के क्षेत्र मे समाजशास्त्र को जिस तरह समझा जाता हैं, उसे प्रस्तुत करेंगे ।

1.2.2 समाजशास्त्र की परिभाषाएं

उपर हमने एक तर्क रखा है कि परंपरागत रूप से समाजशास्त्र की जो परिभाषाएँ दी जाती हैं, वे सामान्यता बहुत सीमित या एकदम वृहत होती हैं, पचास साल पहले समाजशास्त्र का जो अर्थ लिया जाता था, वह आज बहुत कुछ बदल गया है । यह इसलिए कि स्वयं समाज की संरचना मे बदलाव आया है और सामाजिक दशाओं, सामाजिक Oयक्तियों में भी परिवर्तन आया है 1 इसी कारण समाजशास्त्र की परीभाषा में भी स्पष्टता आयी है 1 अब समाजशास्त्र एक ज्ञान शाखा की हैसियत से भी प्रोढ होने लगा है, आज समाजशास्त्र का जो अर्थ बनता है, उसे समझने के लिए परंपरागत परिभाषाओं का उल्लेख भी आवश्यक है, यहाँ यह कहना भी उचित होगा कि अपने अपने उद्‌गम के लम्बे इतिहास में समाजशास्त्र ने कुछ प्रधान विचारों को विकसित किया है 1 ये प्रधान विचार समाजशास्त्र

की थाती है 1 इनके माध्यम से ही इस विषय की स्पष्ट और बधी बंधायी परिभाषा दे सकते थे 1 पहले कुछ परंपरागत परिभाषाएँ :

ऑगबर्न और निमकाफ के विचार :

इन अमेरिकी समाजशास्त्रियों ने समाजशास्त्र को सम्पूर्ण सामाजिक जीवन के अध्ययन का समाज विज्ञान कहा है1 इनका कहना है कि मनुष्य जीवन का सामाजिक अभिनय प्रमुख रुप से चार अभिनेताओं द्वारा खेला जाता है :

- जैव विकास शरीर
- भौगोलिक पर्यावरण
- समूह की प्रक्रियाएँ और
- सास्कृतिक हस्तातंरण

इन चारों अभिनेताओं की अन्तंक्रियाओं से सामाजिक जीवन का ताना बाना बनता है1 इनमे सांस्कृतिक धरोहर का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है1 मानव समाज की विशेषता उसकी संस्कृति है और इसी संस्कृति हस्तांतरण से सामाजिक विभिन्नता आती हे1 इन विद्वानो के अनुसार समाजशास्त्र, सक्षेप में, **मनुष्य के सामाजिक जीवन का अध्ययन** है1

जॉन गिलिन और गिलिन के अनुसार :

किसी समय समाजशास्त्र की पाठ्यपुस्तकों मे गिलिन और गिलिन की **कल्चरल सोशियोलॉजी** एक महत्वपूर्ण कृति थी 1 इन लेखकों का कहना है कि समाजशास्त्र सामाजिक संबंधों, अन्तःक्रियाओं और गत्यात्मकताओं के अध्ययन से जुडा हुआ है1 वे मानते हैं, कि मनुष्य स्वभाव से अकेला नही रहना चाहता 1 वह स्वभाव से ही व्यक्तियों

से घिरा हुआ और बराबर गतिशील रहता है1 अतः गिलिन के अनुसार– समाजशास्त्र, मोटे अर्थ मे, **मनुष्यो के संबंध सें उत्पन्न अन्तक्रियाओं का अध्ययन** है1

किंग्सले डेविस के विचार :

अमेरिका के कोलम्बिया विश्वविधालय के किंग्सले डेविस जो जनसंख्या की ज्ञान शाखा मे अधिकृत विद्वान है, समाज शास्त्र की परिभाषा मे लिखतें हैं :

समाजशास्त्र मानव समाज का अध्ययन है1

मनुष्य और पशु मे अंतर है 1 मनुष्य के पास आत्मा है, जो पशु के पास नही है1 या अन्य शब्दों मे मनुष्य विचारवान प्राणी और पशु नही1 मनुष्य के पास वाणी है, वह बोल सकता है1 हाथ है, वह लिख सकता है 1 इसलिए वह सभ्य है1 पशुओं मे यह सब कुछ नही है1 और इसलिए वे निरे पशु है1

इधर कुछ लोगो के विचार हैं कि शारिरिक दृष्टि से मानव समाज और पशु मे कोई अंतर नही है1 उदाहरण के लिए मनुष्य और बन्दर मे कोई भेद नही है 1 यदि हम मनुष्य और पशु के अन्तर कों स्पष्ट रूप से जानना चाहते हैं तो पता लगेगा की अपनी संस्कृति के कारण ही मनुष्य पशु से भिन्न है1

डेविस कहतें हैं – मनुष्य ओर केवल मनुष्य के पास ही संस्कृति हैं1 इस संस्कृति कें कारण ही अन्य अन्तर दिखायी देंते हैं1 उदाहरण के लिए, संस्कृति के कारण मनुष्य आज पशु से लाखों गुणा ज्यादा अधिक विद्वान और उचां माना जाता हे1 संस्कृति एक विशद शब्द है1 इसके अर्न्तगत मनुष्य के सभी भौतिक साधन, विचार और व्यवहार के प्रतिमान जो उसे एक पीढी से दुसरी पीढी को अन्तःक्रिया से प्राप्त होते हैं, आ जाते हैं1

मैकाइवर और पेज के विचार :

एक लम्बी अवधि तक समाजशास्त्र मे मैकाइवर और पेज की परिभाषा बहुत महत्वपूर्ण रही है1 वे वास्तव में राजनितिशास्त्र के समाज वैज्ञानिक रहे हैं1 लेकिन समाजशास्त्र मे भी उनकी दखल है एक समय उनकी पुस्तक **सोसायटी** गौरव ग्रंथ कही जाती थी 1 इस पुस्तक की भुमिका मे वे समाजशास्त्र की परिभाषा बहुत सपष्ट रूप से रखते हैं1 यह लिखना पर्य्राप्त होगा कि समाजशास्त्र सामाजिक संबधो के बारे में है, ओर सामाजिक संबधो का ताना बाना ही समाज है1 **समाजशास्त्र सामाजिक संबंधों का विज्ञान** है1

स्माजशास्त्र के अध्ययन का केन्द्र बिन्दु सामाजिक संबंध है1 सामाजिक संबंधो का अन्य कोई विज्ञान व्यवस्थित अध्ययन नही करता और सच्चाई यह है कि किसी विज्ञान के अध्ययन का विशेष संदर्श ही उसे अन्य विज्ञानों से पृथक करता है, मानव समाज का यह भव्य सत्य परिवर्तित होने वाले इन सामाजिक संबंधो के प्रतिमानो की ईंटो पर बना है ओर यही समाजशास्त्र की विषयवस्तु है1

मैकाइवर और उनकें सहयोगी लेख कपेज का आग्रह है कि जब हम सम्पूर्ण समाज के अध्ययन की चर्चा करते हैं, तो इसके इसका अर्थ यह नही की उसमे जो कुछ उपलब्ध है वह सब हमारे अध्ययन की विषयवस्तु है1 यदि हमने ऐसी 'महत्वकाक्षा' बनायी तो समाज के अध्ययन से हम भटक जाऐंगें1 यह ठीक है कि हम सामाजिक संबंधो का अध्ययन करते हैं, पर समाज का यह विस्तार भी बंधा हुआ है1 राजनीति आर्थिक व्यवस्था, सांस्कृतिक क्षेत्र आदि सामाजिक खण्डो मे जहाँ कहीं हमे संबंध दिखायी दें, उनका हमे अध्ययन करना चाहिए 1

ग्रीन के विचार :

आरनोल्ड ग्रीन समाजशास्त्र की परिभाषा देने मे मेकाइवर और पेज के संदर्श को ही अपनाते हैं1 वें कहते हैं कि अन्य समाज विज्ञान जैसे की इतिहास, राजनितिशास्त्र ओर

अर्थशास्त्र मनुष्य की विविध क्रियाओं ओर गतिविधियों का अध्ययन करते हैं 1 पर उनका अध्ययन अपने आप मे ही एक एकाकी होता हैं 1 उदाहरण के लिए इतिहास, मनुष्य का अध्ययन है 1 अर्थशास्त्र पूंजी के उत्पादन, विनिमय, वितरण ओर उपभोग का लेखा–जोखा करना हे1 उसमे प्रत्येक विज्ञान अपने जातिगत संदर्श से इन्हे देखता है लेकिन कोइ भी सामाजिक विज्ञान मनुष्य के विभिन्न क्षेत्रों के सामाजिक संबंधों का सामान्यीकरण ओर संकलन करने का विज्ञान है1

बोगारडस के विचार :

बोगारडस समाजशास्त्र का केन्द्रीय संदर्श **समूह** को मानते हैं1 वे तो समाजशास्त्र के अध्ययन का एकमात्र उपागम समाज को मानते हैं1 साधारण शब्दों मे, समूह का अध्ययन कर लिजिए, यह समाजशास्त्र को गया 1 परिवार, जाति, समूह, गाँव और राष्ट्र, सब समूह हैं1 इन समूहो के सदस्य एक दुसरे के सम्पर्क मे आते हे1 समूह के सदस्यों मे सामाजिक संबंधो को अपनी परिभाषा का धरातल बनाते हुए बोगारडस लिखते हैं– **सामाजिक अनुभव जिस पद्धति से मनुष्यों के सामाजिक संबंधो को विकसित तथा परिपक्व करते है, वही समाजशास्त्र** है1

जॉनसन के विचार :

जॉनसन की दृष्टि भी समूह केन्द्रित है1 यदि हम अपने दैनिक जीवन का अवलोकन करें तो ज्ञान होगा की हमारा बहुत सा समय विभिन्न समूहो ओर वर्गों के क्रियाकलापों में सम्मिलत होने मे निकलता है1 ये समूह एक ओर परंपराओं, रूढियो और रीती रिवाजों से स्थायितव ग्रहण करते हैं तो दूसरी और सामाजिक प्रक्रियाओं द्वारा गतिशील भी हैं 1

प्रत्येक समूह का समाज मे एक निशिचत संस्करण होता है1 समाजशास्त्र समूहो के इस संस्करण मे होने वाली गतिविधियों का अध्ययन करता है1

जॉनसन ने समाजशास्त्र की परिभाषा देते हुए कहा है :

समाजशास्त्र वह विज्ञान है जिसका संबध सामाजिक संबंधों से है1 समूहो से उसका यह संबध उसके आन्तरिक प्रकारो या संगठन की पद्धतियों को बनाऐ रखने मे परिर्वतन करने वाली प्रक्रियाओं और समूहों के संबधो से होता है1

पिछले पूष्ठों मे हमने समाजशास्त्र की कतिपय परिभाषाओं को दिया है जो आज के संदर्भ मे परमपरागत या रूढिगत कही जाती हैं 1 इन परिभाषाओं के आधार पर समाजशास्त्र के अर्थ के निम्न बिन्दु स्पष्ट रूप से उभरकर हमारे सामने आतें हैः

- समाजशास्त्र मानवीय समाज का अध्ययन करता है1
- यह समाजविज्ञान मनुष्य समाज की संस्कूति का अध्ययन करता है1
- समाज के केन्द्रीय आधार उसके अगणित समूहो मे जो सामाजिक संबध होते हैं, उन्ही का अध्ययन समाजशास्त्र करता है1
- कोई भी समाज हो, जड नही होता 1 झरने की तरह बराबर गतिशील रहता है1 यानी समाज के बदलते हुए संबधो का अध्ययन भी समाजशास्त्र ही करता है1
- समाजशास्त्र समाज के सम्पूर्ण संबधो– राजनैतिक, आर्थिक, विंधि संबधी आदि का अध्ययन करता है1

युरोप, अमेरिका तथा देशो मे समाजशास्त्र का विकास एक स्वतंत्र विज्ञान की तरह हाल ही में हुआ हे, इस तथ्य को सभी स्वीकार करते हैं1 प्रश्न यह उठता है कि समाज विज्ञान पिछले दिनों के आधुनिक स्वरूप क्यों नही ग्रहण कर पाया ? इसके पिछे कई कारण है 1

यह कहा जाता है कि युरोप और एशिया मे समाज मे जो कुछ होता था वह चौकाने वाला नही था 1 न तो कोइ तीव्रतम गैर बराबरी थी और न कोई भीषण गरीबी 1 थोडे बहुत सामाजिक अंतर के साथ लोगो मे भेदभाव था 1 इस असमानता को परंपरा ओर भाग्य भरोसे छोडकर लोग खुशहाली का जीवन व्यतीत करते थे 1 यदि कहीं असंतोष आता था, जाति बिरादरी मे वैमन्सय होता था तो इसे किसी तरह धर्म के आधार पर सुलझा दिया जाता था1 कई बार समाज की गैर बराबरी और गरीबी को राजांओ और महाराजाओं के दमनकारी शासन के माथे थोप दिया जाता था1

मध्यकाल तक समाज की गति हमारे यहाँ लगभग निर्बोध रूप से चलती रही, आक्रमण और युद्ध की मेड पर चौपाइयां दोहराता हुआ खेती–बाडी मे लगा रहता था किसान 1 यह तो आधुनिक युग की बात है जब विज्ञान ने समाज को नयी दिशा प्रदान की 1 वह सोचने लगा कि जैसे अनुसंधान और अन्वेषण द्वारा प्रकृति को परत दर परत समझा जा सकता है, वैसे ही समाज का विश्लेषण भी किया जा सकता है 1 विज्ञान के उदघोष ने समाज मे नई ज्ञान पिपासा उत्पन्न की 1 जो क्रांति प्राकृतिक वैज्ञानिक हो सकतें, तब समाज वैज्ञानिक भी हो सकते हैं1 इस तर्क ने समाज विज्ञान यानी समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीतीशास्त्र आदि को भी विज्ञान का दर्जा दिया 1 अब यह प्रयास होने लगा कि समाज का अध्ययन भी वैज्ञानिक स्तर पर होना चाहिए1 कुछ इन्ही कारणो से आधुनिक समाजशास्त्र का आस्तित्व वैज्ञानिक हो गया1 सभी समाजशास्त्री आग्रहपूर्वक कहते हैं कि वे समाजवैज्ञानिक है1

यह सत्य हैकि समाज विज्ञानों का प्रांरभिक स्वरूप केवल अटकलबाजी का था1 समाजशास्त्र के लिए यह समझा जाता है कि इसकी रूचि मनुष्य में हैं1 इसलिए इसके माध्यम से मनुष्य के बारे मे जितना भी ज्ञान एकत्र किया जायेगा, उतनी ही मनुष्य के

समझ मे वृद्धि आएगी 1 ऐसे समाजशास्त्र में अटकलबजी के आधार पर जो भी ज्ञान का भण्डार था उसका प्रमाणीकरण स्थितियों में ही किया जा सकता था1

आधुनिक काल में विज्ञान की प्रगति के साथ समाजशास्त्र ने भी अपने आपको विज्ञान के सांचे मे ढालने का प्रयास किया है1 समाजशास्त्र की प्रकृति वैज्ञानिक है लेकिन हमने यह भी आग्रहपूर्वक कहा है कि सभी आधुनिक चिन्तक समाजशास्त्र को एक विज्ञान नही मानते1 इस विवादस्पद मुदर्दे को पूरी गंभीरता के साथ रखने से पहले यह निश्चित हो जाना चाहिए कि विज्ञान किसे कहतें हैं? विज्ञान के कुछ लक्षण होते हैं1 उसकी तथ्य सामग्री होती है1 उसके अध्ययन की विधियां होती है1 यदि इन सबकी पहचान हो सके तो इसे इस कसौटी पर कसा जा सकता है कि किस सीमा तक समाजशास्त्र विज्ञान है1

विज्ञान किसे कहते है?

समाजशास्त्र वह समाजविज्ञान है जो मानव संबधों का वैज्ञानिक अध्ययन करता है1 इसी कारण समाजशास्त्र की पहचान विज्ञान की है1 विज्ञान का अर्थ को यदि हम सार मे समझे तो कहना होगा कि विज्ञान वह शाखा है जो वैज्ञानिक विधि से ज्ञान को व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करता है1 दूसरे शब्दो मे, विज्ञान दुनियाँ के किसी भी तथ्य, भैतिक या सामाजिक, के संबंध मे व्यवस्थित ज्ञान को प्रस्तुत करता है1 इस ज्ञान को एकत्र करने मे जिन विधियों को काम मे लिया जाता हे वे वैज्ञानिक होती हें1

इस तरह विज्ञान, ज्ञान को व्यवस्थित रूप मे रखेंता है और इस ज्ञान का उपागम वैज्ञानिक विधि होती है1 बरट्रेण्ड ने समाज को एक विज्ञान के रूप में प्रस्तुत करने के प्रयास मे विज्ञान को परिभाषित किया है1 उनके अनुसार विज्ञान के अर्न्तगत जिस दुनिया मे हम रहते हैं उसका तथ्यात्मक विश्लेषण होता है1 प्रकृति की व्यवस्था मे अनेक वस्तुएं हैं 1 इन वस्तुओं निहित कुछ नियम होते हैं 1 ये वस्तुएं बेतरतीब नही हैं1 सूरज पूर्व

दिशा से निकलता है औेर पश्चिम मे अस्त होता है1 आदिम मानवो ने सूर्य की इस गतिविधि को देखा होगा, तब कई वर्षा बाद उन्हे ज्ञान हुआा हौगा कि सूरज के अस्तांचल ओर उदयांचल के कुछ नियम हैं1 मतलब हुआ, प्रकिृति को एक निश्चित व्यवस्था का रूप देते हैं1 प्राकृतिक वैज्ञानिक, वैज्ञानिक इसलिए है कि वे प्रकृति के इन नियमो को एक निश्चित सूची में रखते हैं, उसका विश्लेषण करते हैं

प्रकृति की वस्तुओं की सूची बनाना, उन्हे एक व्यवस्था मे रखना, व्यवस्था को बनाऐ रखने वाले जो सिद्धांत हैं उनकी पहचान करना पर्याप्त नही है1 इस सम्पूर्ण कवायद के लिए निश्चित विधियॉं होती है 1 उदाहरण के लिए प्राकृतिक विज्ञानो में अवलोकन विधि अपनायी जाती है1 उसके लिये निश्चित परिभाषित करने के लिये किसी निश्चित वैज्ञानिक विधि का होना आवश्यक है, और यह विधि है ः वस्तुओं का अवलोकन, सत्यापन ओर तुलना1

वैज्ञानिक विधि के चरणः

किसी ज्ञान शाखा के विज्ञान होने की बहुत बडी कसौटी उसकी विधियां हैं 1 विधि मे अटकल बाजी नही चलती, केवल अनुमान काम नही करता 1 इसमे स्पष्टता और निश्चितता होती है 1 जब अनुसंधानकर्ता किसी भी समस्या को अपने अध्ययन के लिए लेता हे तो पहले चरण मे व्याधिकी का होना आवश्यक नही है1 समस्या, वस्तुतः हमारे ज्ञान का अभाव है 1 यानी इसके बारे मे हमे जानकारी नही है1 इन जानकारी या ज्ञान के अभाव की पहचान ही वैज्ञानिक विधि का पहला कदम है1

वैज्ञानिक विधि का दुसरा चरण अध्ययन की समस्या के संबध मे कुछ प्राक्कल्पनाएॅं बनाना है1 यह प्राक्कल्पना उपलब्ध सामग्री के आधार पर बनती है1 यह भी हो सकता है

कि प्राक्कल्पनाओं को प्रचलित सिद्धातों के आधार पर बनाया जाता है। ऐसा करने का उद्धेश्य यह है कि सिद्धांत बराबर आनुभाविकता के आधार पर संशोधित होते रहें।

वैज्ञानिक विधि का तीसरा चरण आनुभाविक सत्यापन है। इसे कई बार क्षेत्रीय कार्य भी कहतें हैं। क्षेत्रीय कार्य मे अवलोकन किया जाता है और अवलोकन के आधार पर ही निष्कर्ष निकाले जातें है। निष्कर्ष की प्रक्रिया के अध्ययन के अपरिचित तथ्यो के बारे में तार्किक कारण दिये जाते हैं । ये निष्कर्ष दो प्रकार के होते हैं : पहले निष्कर्ष को निगमन अर्थात सामान्य से व्यक्तिगत तथ्यों का विश्लेषण करना कहते हैं । दुसरे निष्कर्ष मे व्यक्तिगत तथ्यों से सामान्य नियम बनाऐ जाते हें। ऐसे निष्कर्ष आगमनात्मक होते हें ।

वैज्ञानिक विधि का चौथा चरण वर्गीकरण और वर्णन है। जो कुछ निष्कर्ष निकला है उसका वर्गीकरण व वर्णन करके व्यवस्थित रूप से रखा जाता है। यें सब निष्कर्ष एक सिद्धांत के रूप मे प्रस्तुत किये जाते हैं। अनुसंधान के ये चारो चरण वस्तुतः वैज्ञानिक विधि कहलाते हैं।

सभी वैज्ञानिक विधियों मे कुछ तकनीके अपनाायी जाती हैं। समाज विज्ञान मे सांख्यिकीय विधि का प्रयोग मात्रात्मक संबधों के लिये किया जाता है। प्रयोग मे लाने वाली दूसरी तकनीक क्षेत्रिय कार्य की है। इसमे साक्षातकार अनुसूची आदि के माध्यमो से तथ्यो के बारे जानकारी ली जाती हे। वैयक्तिक अध्ययन के प्रयोग द्वारा तथ्यो की गहराई मे पहुचां जाता है। ऐतिहासिक विधि सामाजिक प्रक्रियाओं के विकास ओर निरंतरता को देखती है। इन तकनीको के अतिरिक्त अनुसंधान के तथ्यो की प्रकृति को देखकर सर्वेक्षक कई अन्य तकनीको को भी काम मे ले सकता है ।

यदि हम उर्पुयक्त विधियों को ईमानदारी से काम मे लाये तो कहना चाहिए कि समाजशास्त्र भी एक समाजविज्ञान है । लेकिन जो कुछ यहाँ कहा जा रहा है कि उसे कर पाना बहुत कठिन है। किसी भी अनुसंधानकर्ता के लिए तटस्थता की भूमिका निभाना बहुत

कठिन है1 उसकी स्वयं की पंसदगी या नापसंदगी होती है; उसकी स्वयं की वैचारिकी होती, और न चाहने पर भी वह स्वयं के दुराग्रह के भंवर में फंस जाता है1

शायद समाजशास्त्र को विज्ञान नही मानने वालों का, यह भी एक तर्क है1 जब अनुसंधानकर्ता स्वयं एक चर बन जाता है, तब उसका वैज्ञानिक बने रहना कठिन है1 इधर जिन तथ्यो का अध्ययन वह करता है उनमे स्थिरता नही होती 1 सामाजिक प्रक्रियाँए उन्हे भी एक चर बना देती है1 इसी कारण समाजशास्त्र का एक समाज विज्ञान होना विवादस्पद है1

1.2.3 समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति के लक्षण :

समाज के विज्ञान होने या न होने की बहस बहुत बड़ी है। इस बहस का हमनें एक पहलू रखा है। हमने यह कहा है कि कुछ विचारकों की दृष्टि में समाजशास्त्र को तार्किक दृष्टि से विज्ञान कहा जा सकता है। इसके विज्ञान होने के लक्षणों का उल्लेख हमनें ऊपर किया है। यहाँ हम इन्हें सार रूप में रखेंगे।

समाजशास्त्र तथ्यों को प्रमाणित करता है :

विज्ञान की कसौटी प्रमाणीकरण है। जैसे भी तथ्य है उन्हें प्रयोगशाला में प्रमाणीकरण के लिये रखा जाता है। समाजशास्त्र भी तथ्यों का प्रमाणीकरण क्षेत्रीय कार्यों के माध्यम से करता हैं।

समाजशास्त्र की विधियाँ वैज्ञानिक है :

तथ्य जैसे भी होते हैं, बिना लाग–लपेट के समाजशास्त्री इन्हें प्रस्तुत करता है। यह प्रस्तुति तार्किक और अमूर्त होती है। कुंजी रूप में समाजशास्त्र, प्राकृतिक विज्ञान की विधि अवलोकन को अपना आधार मानकर चलता है। वह मनुष्य के व्यवहार का खुली आँखों और इन्द्रियों के माध्यम से अवलोकन करता है।

विज्ञान सार्वदेशिक होता है :

गणितशास्त्र में दो और सारी दुनियाँ में चार होते हैं। ऐसा नहीं होता कि अमेरिका में दो और दो पाँच होते हों और भारत में तीन। गणित तो गणित है, देशकाल से परे है। यही बात रसायनशास्त्र और भौतिकशास्त्र पर भी लागू होती है। क्या इस अर्थ में रसायनशास्त्र भी सार्वदेशिक है? विचारकों के एक समुदाय का कहना है कि संसार के विभिन्न देशों में समाजशास्त्र भी एक समान ही है। अमरीका का समाजशास्त्र, चीन के समाजशास्त्र से भिन्न नहीं होता। इस प्रकार का तर्क बहुत सुंदर लगता है लेकिन जब विभिन्न देशों की सामाजिक संरचनाओं को तुलनात्मक रूप से देखते हैं तो हमें इनमें विविधता देखने को मिलती है।

समाजशास्त्र किसी भी वैचारिकी से मुक्त है :

यह तर्क दिया जाता है कि यदि विचारक प्रयत्न करें तो समाज का एक विज्ञान बनाया जा सकता है। इस तर्क का आग्रह है कि कोई भी समाजशास्त्री भौतिक और सामाजिक घटनाओं का अवलोकन वस्तुनिष्ठ होकर कर सकता है। दूसरे शब्दों में, एक विज्ञान की दृष्टि से समाजशास्त्र किसी भी वैचारिकी, विश्वास और मूल्यों से मुक्त हो सकता है। वैचारिकी वस्तुतः किसी भी एक समूह के विश्वास और मूल्य होते हैं। एक विज्ञान की तरह समाजशास्त्र का इन विश्वासों और मूल्यों से कोई सरोकार नहीं होता, और यही उपागम समाजशास्त्र को एक विज्ञान बनाता है।

समाजशास्त्र तार्किक है यादि एक कार्य-करण के संबंधों को निश्चित करता हैः

किसी भी विज्ञान की बहुत बड़ी धरोहर उसकी तार्किक प्रकृति होती है। मेक्स वेबर ने अपनी सम्पूर्ण कृतियों में आग्रहपूर्वक कहा है कि समाजशास्त्र को अपना केन्द्रीय संदर्श विवेकशीलता को बनाना चाहिए। विवेकशीलता यादि तार्किकता वैज्ञानिक समाजशास्त्र की आधारशिला है। इस आधार पर समाजशास्त्र का कर्तव्य क्या है, तक ही सीमित नहीं है।

इसे कैसे है, का उत्तर भी देना चाहिये। किसी भी विज्ञान की तरह समाजशास्त्र को भी कार्य–कारण संबंधों का क्रमबद्ध ढंग से अध्ययन करना चाहिये। उदाहरण के लिए यदि भारत में शिक्षित वर्ग की बेकारी की समस्या अन्य देशों की तुलना में ज्यादा गंभीर है तो इसके कुछ कारण है। यदि अहिंसा के सिद्धांत की उत्पति केवल भारत में ही सर्वप्रथम हुई है तो इसके भी कुछ निश्चित कारण है। दूसरे शब्दों में, सामाजिक घटनाओं में कोई जादूगरी या चमत्कार नहीं है। इन घटनाओं के पीछे कोई न कोई कारण अवश्य होते हैं। कार्य–कारण के इन संबंधों को निश्चित करना विज्ञान का लक्ष्य होता है।

समाजशास्त्र के सिद्धांतों की परीक्षा और पुनः परीक्षा हो सकती हैः

विज्ञान संचयी होता है, यह बराबर तथ्यों के आधार पर सिद्धांतों का संशोधन करता है। अर्थशास्त्रियों ने स्थापित किया कि कोई वस्तु जितनी अधिक महंगी होती है, उतनी ही अधिक उपयोगी। कहावत है : सस्ता रोये बार–बार, महंगा रोये एक बार। इसका अर्थ है कि महंगी वस्तु अधिक टिकाऊ और उपयोगी होती है। अर्थशास्त्र के इन सिद्धांत को वेबलिन ने झुठला दिया। उसने नए तथ्यों के आधार पर स्थापित किया कि महंगी वस्तु उपयोगी हो या न हो, व्यक्ति की प्रतिष्ठा अवश्य बढ़ाती है। दूसरे शब्दों में, महंगी वस्तु आदमी को प्रतिष्ठा देती है। विज्ञान, इस तरह अपने सिद्धांतों को बराबर परीक्षण और पुर्नपरीक्षण की कसौटी पर कसता रहा है। समाजशास्त्र के कई ऐसे सिद्धांत है जो बराबर आनुभाविक परीक्षण की कसौटी पर कसे जाते हैं। मानवशास्त्रियों द्वारा बनायी गयी प्रकार्यवाद की अभिधारणाओं को रोबर्ट मर्टन ने मौलिक रूप से बदल दिया।

समाजशास्त्र एक विज्ञान नहीं है :

समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति के बारे में यह कहकर कि यह एक समाज विज्ञान है, हम अपने वैचारिक दायित्व से मुक्त नहीं हो जाते। आज विज्ञान की इस बहस से कई तथ्य जुड़े हुए हैं। वास्तव में बहस बहुत लम्बी है और इससे कई विचारक जुड़े हुए हैं। एक ओर

पिरे बोर्दियों जैसे दार्शनिक–समाजशास्त्री है, जो कहते हैं कि समाजशास्त्र निश्चित रूप से एक समाज विज्ञान है। दूसरी ओर एन्थोनी गिडेन्स और होरलाम्बोस जैसे समाजशास्त्री है जो निश्चित तर्कों के आधार पर यह स्वीकार करने को तैयार नहीं है कि समाजशास्त्र एक विज्ञान है। इस अध्याय के अगले भाग में हम उन तर्कों को देखेंगे जो समाजशास्त्र को विज्ञान का दर्जा देने के लिए राजी नहीं है।

प्रत्यक्षवाद बनाम फिनोमिनोलोजीकल उपागम :

समाजशास्त्र में ही नहीं, सभी समाज विज्ञानों में आज एक बहस चल रही है जिसमें यह कहा जा रहा है कि व्यक्ति और समाज के समझने में प्रत्यक्षवादी उपागम असफल रहा है। इसके विकल्प रूप में घटना क्रिया सिद्धांत यानी फिनोमिनोलोजी को रखा जा रहा है। फिनोमिनीलोजी सिद्धांतवेत्ताओं का एक मात्र उद्देश्य समाज या दुनिया की वास्तविकता को जानना है। आखिर, वास्तविकता क्या है? दुनिया में कौन सी वस्तुएं अस्तित्व रखती हैं? और यदि दुनिया में जो कुछ वास्तविकता है, जिसका अस्तित्व है, उसे जानने की पद्धति क्या है? इन प्रश्नों के उत्तर में फिनोमिनोलोजी का कहना है कि समाज की वास्तविकता को जानने का तरीका केवल एक है और यह है, व्यकित का अनुभव, दुनिया में जो कुछ वास्तविक है उसे व्यक्ति अपनी इन्द्रियों और मानसिक प्रक्रियाओं द्वारा अनुभव करता है। दूसरे लोगों का अस्तित्व, उनके मूल्य, मानक और भौतिक वस्तुओं के अस्तित्व, को लोगों की चेतना और जागृति द्वारा ही जाना जा सकता है। कोई भी मनुष्य प्रत्यक्ष या सीधा समाज के यथार्थ को नहीं जान सकता। इस यथार्थ को समझने में मनुष्य की चेतना और उसके मस्तिष्क की क्रियाशीलता महत्वपूर्ण है। हमारा जो कुछ ज्ञान समाज के बारे में है वह सब चेतना या मस्तिष्क के सम्पर्क के माध्यम से है। ज्ञान का उद्गम वस्तुतः व्यक्ति का अनुभव है।

अपने उद्देश्यों में फिनोमिनोलोजी प्रत्यक्षवाद का खण्डन करता है। वास्तविकता का अवलोकन नहीं किया जा सकता, उसे केवल समझा जा सकता है। सच्चाई यह है कि प्रत्यक्षवाद की जो भी मान्यताएँ हैं उन्हें फिनोमिनोलोजी अस्वीकार करता है। प्रत्यक्षवाद की जो अध्ययन सामग्री है वह बुनियादी रूप से सामाजिक सामग्री से भिन्न है। इस कारण प्राकृतिक प्रघटनाओं के समझने की जो विधियाँ है वे सामाजिक प्रघटनाओं को समझने में अर्थहीन है। प्राकृतिक विज्ञान का सरोकार द्रव्य से होता है। इन द्रव्यों को, इनके व्यवहार को अवलोकन द्वारा पूरा किया जा सकता है। वायु, तरल पदार्थ, आदि को हम बाहर से देखते हैं और इनका विश्लेषण करते हैं। इन द्रव्य पदार्थों की अपनी स्वयं की कोई चेतना नहीं होती। इन द्रव्यों के कोई अर्थ और उद्देश्य नहीं होते जो इनकी गतिविधियों को संचालित करते हों। द्रव्य तो अचेतन रूप में बाहरी उत्प्रेरक पर अपनी प्रतिक्रिया देते हैं। द्रव्य की इस प्रकृति के कारण प्राकृतिक विज्ञान इसका अवलोकन करते है, इसे मापते और तोलते हैं और अन्त में बाहरी तर्क द्वारा इनका विश्लेषण करते हैं।

द्रव्य के विपरीत मनुष्य में चेतना होती है– विचार, भावनाएँ अर्थ और अन्तःक्रिया होते हैं। इसी कारण मनुष्य की क्रियाओं और गतिविधियों के पीछे कुछ निश्चित अर्थ होते हैं। परिणामस्वरूप आदमी न केवल उत्प्रेरक के प्रति अपनी प्रतिक्रिया ही देता है, स्वयं क्रिया भी करता है। उदाहरण के लिए आदिम आदमी ने जब देखा कि पत्थरों के घर्षण से अग्नि उत्पन्न होती है तो इसके प्रति उसकी प्रतिक्रियाएँ भिन्न हो गयी। उसने उत्पन्न हुई अग्नि को कई तरह से पारिभाषित किया। अग्नि का प्रयोग उसने जंगली जानवरों से बचने, भोजन पकाने तथा सर्दी से बचने के लिए किया। मनुष्य अग्नि के प्रति केवल प्रतिक्रिया ही नहीं करता, वह उसे भिन्न–भिन्न अर्थ भी देता है। यह समाजशास्त्री का कार्य है कि वह इन अर्थों की खोज करे, जिससे आदमी की क्रियाओं को सही अर्थ में समझ सकें। वह क्रियाओं को केवल बाहर से देखना मात्र नहीं है, केवल बाह्य तर्क नहीं लगता। क्रियाओं को

समझने के लिए उसे आन्तरिक तर्क या इसके पीछे जो अर्थ है उसे समझना पड़ता है। इसी कारण समाजशास्त्र किसी भी अर्थ में विज्ञान नहीं हो सकता। सामान्य निष्कर्ष यहीं है कि प्राकृतिक विज्ञानों की अध्ययन सामग्री भौतिक होती है जबकि समाज विज्ञानों की अध्ययन सामग्री सामाजिक और सांस्कृतिक होती है। अध्ययन सामग्री का यह बुनियादी अन्तर दोनों ही विज्ञान की विधियों में अंतर कर देता है। प्राकृतिक प्रघटनाओं का बाहर से अवलोकन किया जा सकता है जबकि सामाजिक और सांस्कृतिक प्रघटनाओं को आन्तरिक तर्क द्वारा ही समझा जा सकता है। एक में अवलोकन किया जाता है और दूसरे में समझा जाता है।

समाजशास्त्र के पास प्रयोगशाला नहीं हैं :

ऊपर हमने कहा है कि जहाँ प्राकृतिक प्रघटनाओं का अध्ययन करता है, वहाँ समाजशास्त्र सामाजिक प्रघटनाओं का अध्ययन करता है। इन दोनों विज्ञानों में मौलिक अन्तर यह है कि प्राकृतिक प्रघटनाओं में किसी भी तहर की चेतना नहीं होती। एक और कारण समाजशास्त्र के विज्ञान नहीं होने का यह है कि इसके पास कोई प्रयोगशाला नहीं होती। प्राकृतिक विज्ञान की अध्ययन पद्धति अवलोकन है और इसके लिये स्टेन्डर्ड प्रयोगशालाएँ होती है। इन्हीं प्रयोगशालाओं में द्रव्यों की माप–तोल के लिये समाजशास्त्र में नहीं होती। इस तर्क के उत्तर में यह कहा जाता है कि समाजशास्त्र में क्रियाओं के अवलोकन के लिये क्षेत्रीय कार्य की तरह इसे नियंत्रित नहीं किया जा सकता। किसी भी प्रयोगशाला में आवश्यकतानुसार ताप को बढ़ाया घटाया जा सकता है, गर्मी के दिनों में भी शीतकाल जैसी ठंडक पैदा की जा सकती है। दिन में भी रात का अंधकार लाया जा सकता है या मेंढ़क की चीर–फाड़ करके उसका परीक्षण किया जा सकता है। क्षेत्रीय कार्य में ऐसी कोई सुविधाएँ नहीं होती। इस संबंध में गार्नर का कहना सही हैः

हम समुदाय के एक भाग को हाथ में नहीं ले सकते, और उसे विभिन्न अवस्थाओं में रखकर न तो अपनी विचारवान जिज्ञासा की संतुष्टि कर सकते हैं, और न सामाजिक समस्याओं को हल कर सकते हैं।

कोई भी समाजशास्त्री न तो अपनी आवश्यकतानुसार एक दम्पति के वैवाहिक जीवन को सुखी या दुखी बना सकता है और न ही भीड़ के व्यवहार का अध्ययन करने के लिए कुछ लोगों को बुलाकर भीड़ बनाने को कह सकता है। इस अर्थ में प्रयोगशाला का स्थान क्षेत्रीय कार्य नहीं ले सकता। इसी कारण समाजशास्त्र के विज्ञान बनने में प्रयोगशाला का अभाव एक महत्वपूर्ण कमी है।

समाजशास्त्र की अध्ययन सामग्री और विस्तार :

किसी भी विज्ञान की एक निश्चित अध्ययन सामग्री होती है। प्राकृतिक विज्ञान में रसायनशास्त्र या भौतिकशास्त्र की एक पारिभाषित अध्ययन सामग्री होती है। यह कहा जा सकता है कि भौतिकशास्त्र केवल भौतिक प्रघटनाओं का अध्ययन मात्र करता है और किसी द्रव्यों का नहीं। जिस तरह बाजार में अपना खेल प्रारम्भ करने से पहले मदारी अपनी बांसुरी से एक गोला बना देता है जिसके बाहर दर्शक खड़े रहते हैं, कुछ वैसे ही विज्ञान भी एक गोला बनाकर घोषित करते हैं इसके अन्तर्गत जो कुछ है, उसी का अध्ययन समाजशास्त्र नहीं करता। इस समाज विज्ञान की एक निश्चित अध्ययन सामग्री है और इसी का अध्ययन यह विज्ञान करता है। प्रश्न उठता है : इस अध्ययन सामग्री को किसने निश्चित किया? इसके लिए परम्परा काम करती है। समाजशास्त्र के संस्थापकों ने इसकी सामग्री को निश्चित किया और परम्पराओं ने समय के उलटफेर के साथ, इस सामग्री को घटाया–बढ़ाया, सजाया संवारा।

अध्ययन सामग्री को निश्चित करने के लिए सबसे पहले समाजशास्त्र की परिसीमा निश्चित करनी होगी। ऐसा नहीं हो सकता कि जिस सामग्री का अध्ययन समाजशास्त्र

करता है उसी का अध्ययन अर्थशास्त्र और इतिहास भी करें। समाज विज्ञान में किसी न किसी तरह का श्रम विभाजन तो होना ही चाहिये। अध्ययन सामग्री को निश्चित करने का एक उपाय यह भी है कि समाजशास्त्र में जो कुछ पढ़ाया जाता है, जो कुछ उसी पाठ्य सामग्री है, जो कुछ उसका अनुसंधान क्षेत्र है, वह सभी इस समाज विज्ञान की अध्ययन सामग्री है। किसी भी सामाजिक व्यवस्था में – आदिम समाज से लेकर उन्नत समाज तक में परिवार का कोई न कोई स्वरूप अवश्य होता है, विवाह की कोई पद्धति नहीं होती है, किसी न किसी प्रकार की नातेदारी व्यवस्था होती है, धार्मिक और आर्थिक संगठन होते हैं। इन सबका अध्ययन समाजशास्त्र करता है लेकिन इन संस्थाओं का अध्ययन अर्थशास्त्र, इतिहास और राजनीति विज्ञान भी करते हैं। यह कहा जाता है कि समाजशास्त्र की अध्ययन सामग्री कुछ भी हो सकती है, महत्वपूर्ण तथ्य तो यह है कि इस अध्ययन सामग्री के विश्लेषण का संदर्श क्या है? एलेक्स इंकेल्स का तो कहना है कि समाजशास्त्र की परिभाषा में कितनी ही विविधता हो, यह निश्चित है कि समाजशास्त्र सामाजिक व्यवस्था या उसके अनुक्रम का अध्ययन करता है। यही इसका संदर्श है। हेरालाम्बोस की पुस्तक सोशियोलाजी का उपशीर्षक तो संदर्श ही है। यह संदर्श या वस्तुओं को देखने का नजरिया ही समाजशास्त्र है। महत्वपूर्ण बात यह है कि समाजशास्त्र विभिन्न सामाजिक सामग्रियों में एक व्यवस्था या अनुक्रम को देखने का प्रयास करता है। अनुक्रम का मतलब हुआ कि सामाजिक सामग्री में घटनाएँ एक नियमित प्रतिमान के रूप में बदलती है। बदलाव की इन नियमितता को यदि समाजशास्त्र समझ सकें तो यह सम्पूर्ण समाज के अध्ययन के लिए उपयोगी होगा। कहा जाता है कि समाजशास्त्र सामाजिक व्यवस्था का अध्ययन करता है, इसका मतलब हुआ समाज की विभिन्न इकाइयाँ एकीकृत होकर सामाजिक व्यवस्था या अनुक्रम को बनाते हैं। इन सब सामाजिक इकाइयों का अध्ययन ही समाजशास्त्र को बनाता है।

अध्ययन सामग्री की पहचान :

अगर हम यह स्वीकार कर लें जैसा कि एलेक्स इंकेल्स ने कहा है कि जिस किसी सामग्री को समाजशास्त्र की पाठ्यपुस्तकों में सम्मिलित किया जाता है या समाजशास्त्री जिस सामग्री को अपने अनुसंधान के लिये सम्मिलित करते हैं, वही इसकी अध्ययन सामग्री है तो हमारे लिये समाजशास्त्र की अध्ययन सामग्री की पहचान करना आसान हो जायेगा। दूसरे शब्दों में, समाजशास्त्र के नाम पर जो कुछ पढ़ाया जाता है, जिस किसी पर अनुसंधान किया जाता है वह समाजशास्त्र की अध्ययन सामग्री है। इंकेल्स ने अपने इस उपागम के माध्यम से ऐसे अनुसंधानों का उल्लेख किया है जिनमें समाजशास्त्रीय पाठ्यपुस्तकों में क्या–क्या पढ़ाया जाता है? होमेल हार्ट द्वारा किये गए एक अनुसंधान का उल्लेख इंकेल्स ने किया है हार्ट ने समाजशास्त्र की अध्ययन सामग्री में कोई एक दर्जन थीम की पहचान की है। इस थीम में जाति, वर्ग, प्रजाति, सामाजिक परिवर्तन, आर्थिक संस्थाएँ, परिवार, शिक्षा और धर्म आदि सम्मिलित हैं। समाजशास्त्र की पाठ्यपुस्तकों में जिन थीम्स को सम्मिलित किया गया है उनकी प्रकृति विविध है। किसी पाठ्यपुस्तकों में कुछ अध्ययन सामग्री पर जोर दिया है और किसी में इनको हल्के वजन के साथ रखा है। इस विभिन्नता के होते हुए भी हार्ट कहते हैं कि विभिन्न पाठ्यपुस्तकों में कुछ ऐसी अध्ययन सामग्री है जिसे निश्चित रूप से समाजशास्त्र की अध्ययन सामग्री कहा जा सकता है। इस दृष्टि से समाजशास्त्र की अध्ययन सामग्री में विविध विषय सम्मिलित किये जा सकते हैं।

हेरालाम्बोस की पुस्तक समाजशास्त्र एक दृष्टि से समाजशास्त्र की अध्ययन सामग्री पर आधारित पुस्तक है। उनकी दृष्टि में समाजशास्त्र की अध्ययन सामग्री में सामाजिक स्तरीकरण, शक्ति और राजनीति, गरीबी, शिक्षा कार्य और अवकाश, संगठन और दफ्तरशाही, परिवार, महिलाएँ, समाज तथा धर्म सम्मिलित है। इन सब विषयों को ही वे समाजशास्त्र की अध्ययन सामग्री बताते हैं। इस अध्ययन सामग्री का विश्लेषण ही उनकी पुस्तक का

आधार है। हमारे देश में समाजशास्त्रीय अध्ययन सामग्री के अन्तर्गत यदि हमें कोई प्रमाणित दस्तावेज मिलता है तो वह भारतीय सामाजिक अनुसंधान परिषद द्वारा किये गए सर्वेक्षण से प्राप्त होता है। परिषद इन सर्वेक्षणों को प्रति दस वर्ष में करवाती है। यह सर्वेक्षण समाजशास्त्र और सामाजिक मानवशास्त्र की विधाओं में होता है। अभी तक उपलब्ध इन सर्वेक्षणों का विश्लेषण किया जाए तो ज्ञात होगा कि समाजशास्त्र की अध्ययन सामग्री पिछले तीन दशकों में ज्यों की त्यों रही हो, ऐसा नहीं है। किसी दशक में पुरानी अध्ययन सामग्री लुप्त हो जाती है और किसी दूसरे दशक में नयी अध्ययन सामग्री अवतरित हो जाती है। सामग्री के इस फेरबदल के होते हुए भी इन सर्वेक्षणों के अनुसार समाजशास्त्रीय अध्ययन सामग्री का सार भाग निम्न तरह है –

1. समाजशास्त्रीय सिद्धांत
2. समाजशास्त्रीय विधि,
3. सामाजिक स्तरीकरण
4. आदिवासी, ग्रामीण और नगरीय अध्ययन
5. सामाजिक जनांकिकी,
6. औद्योगिकी समाजशास्त्र,
7. धर्म का समाजशास्त्र,
8. अनुसूचित जातियाँ – जनजातियाँ,
9. धर्म का समाजशास्त्र,
10. सामाजिक आन्दोलन,
11. संचार का समाजशास्त्र,
12. विज्ञान का समाजशास्त्र,
13. शिक्षा का समाजशास्त्र, और

14. व्यवसायों का समाजशास्त्र

अध्ययन सामग्री के प्रमुख क्षेत्र :

पिछले पृष्ठों में हमने समाजशास्त्र की अध्ययन सामग्री की पहचान करने का प्रयास किया है। ऐसा करने में हमनें भारत और विदेशों में अध्ययन सामग्री के अन्तर्गत सामान्यतया जिन विषयों को सम्मिलित किया जाता है उसका ब्यौरा दिया है। इस ब्यौरे के कुछ निश्चित बिन्दुओं में हम प्रस्तुत करेंगे :

(1) जो कुछ समाजशास्त्रीय पाठ्यपुस्तकों में रखा गया है वही इसकी अध्ययन सामग्री है। विदेशों में विशेषकर अमेरिका में जो कुछ सर्वेक्षण हुए है उनके आधार पर वहाँ की पाठ्यपुस्तकों में अध्ययन सामग्री के नाम पर जिन विषयों को सम्मिलित किया है उनमें परिवार, राजनीतिक व्यवस्था, अर्थ व्यवस्था, धर्म, स्तरीकरण, शिक्षा आदि है।

हेरालाम्बोस जैसे समाजशास्त्रियों ने तो समाजशास्त्र का विश्लेषण, उसके थीम्स और संदर्श के आधार पर किया है। उनके अनुसार समाजशास्त्र की अध्ययन सामग्री में सामाजिक स्तरीकरण, राजनीति और शक्ति, गरीबी, शिक्षा, अवकाश, दफ्तरशाही, औपचारिक संगठन, परिवार जेन्डर और धर्म सम्मिलित है।

भारतीय सामाजिक अनुसंधान परिषद, नई दिल्ली द्वारा समाजशास्त्र और सामाजिक मानवशास्त्र में जिन विषयों पर पिछले तीन दशकों में अनुसंधान कार्य हुआ है उसमें सिद्धांत, विधि, धर्म, सामाजिक स्तरीकरण, जाति, वर्ग, ग्रामीण और शहरी समुदाय, आदिवासी, संचार, सामाजिक आन्दोलन, विज्ञान, शिक्षा, व्यवसाय तथा अनुसूचित जातियाँ आदि सम्मिलित है।

(2) समाजशास्त्रीय संस्थापकों के अनुसार अध्ययन सामग्री किसी भी अन्य समाज विज्ञान की तरह निश्चित है। आगस्ट कॉम्ट और स्पेन्स्र ने यह प्रयत्न किया कि समाजशास्त्र की अध्ययन सामग्री की स्पष्ट पहचान होनी चाहिये। यह निश्चित रूप से कहना चाहिए कि समाजशास्त्र इस क्षेत्र का अध्ययन करेगा और उस क्षेत्र का नहीं। इस प्रयास में कॉम्ट और स्पेन्सर ने सामाजिक स्थैतिकी और सामाजिक गतिशीलता पर जोर दिया। दुर्खीम ने समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र को और अधिक सीमित रूप से बांधा। उनके लिये सामाजिक तथ्यों का अध्ययन ही अध्ययन सामग्री की एक मात्र पहचान है।

ठीक इनके विपरीत मेक्स वेबर ने सामाजिक क्रिया और विवेकशीलता को समाजशास्त्र की अध्ययन सामग्री बताया। मार्क्स समाजशास्त्र की अध्ययन सामग्री समाज में होने वाले संघर्षों तक सीमित रहते हैं। उनके अध्ययन का केन्द्र वर्ग और द्वन्द्ध है। अर्वाचीन समाजशास्त्रियों में टेलकट पारसंस, रोबर्ट मर्टन आदि समाजशास्त्र की अध्ययन सामग्री की पहचान व्यवस्था के साथ जोड़ते हैं। उनके लिये सामाजिक व्यवस्था का अध्ययन समाजशास्त्र की अध्ययन सामग्री है।

प्रस्तुत अध्याय के दूसरे भाग में हमनें समाजशास्त्र की अध्ययन सामग्री पर चिन्तन किया है। यह निश्चित रूप से कहा जाना चाहिये कि एक समाजविज्ञान की तरह प्रतिष्ठित होने के लिये समाजशास्त्र की अध्ययन सामग्री की निश्चित पहचान होनी चाहिये। यह समझ आ जाना चाहिये कि समाज में जो कुछ है, उस सभी का अध्ययन समाजशास्त्र नहीं करता। जिन विषयों का समाजशास्त्र अध्ययन करता है, उसे विश्लेषण द्वारा तय किया जा सकता है। यह भी स्पष्ट है कि समाजशास्त्र पहचान की गयी अध्ययन सामग्री को अपने एक निश्चित संदर्श से देखता है। यह संदर्श ही समाजशास्त्र की जीवन रेखा है।

जब अध्ययन सामग्री की पहचान हो जाती है, और संदर्श पक्का हो जाता है तो यह समाजशास्त्र को एक निश्चित दिशा देता है। हमें यहाँ यह भी कहना चाहिये कि अध्ययन सामग्री की पहचान एक अकादिमक प्रक्रिया है और यह बराबर चलती रहती है। इसका कारण यह है कि समाज कभी स्थिर नहीं रहता। समाज तो निरन्तर चलने वाली सामाजिक प्रक्रियाओं की उपज है। इसी कारण इसकी अध्ययन सामग्री में भी बराबर बदलाव आता रहता है। कुछ अध्ययन सामग्री अतीत में खो जाती है, और कुछ नवीन सामग्री उभरकर सामने आती है और इस भाँति उभरती हुई यह नवीन अध्ययन सामग्री ही समाजशास्त्र का अध्ययन क्षेत्र है और इसका विस्तार भी।

1.3 सारांश :

- समाजशास्त्र की परिभाषा और उसके अर्थ पर कुछ भी चर्चा करने से पहले यह बहुत स्पष्ट रूप में कहना चाहिए कि इस समाजविज्ञान की कोइ एक निश्चित परिभाषा नही है, कई तरह की परिभाषाएँ दी जाती हें ।
- समाजशास्त्र सम्पूर्ण सामाजिक जीवन के अध्ययन का समाज विज्ञान है1
- समाजशास्त्र मनुष्य के सामाजिक जीवन का अध्ययन है1
- समाजशास्त्र सामाजिक संबंधों, अन्तःक्रियाओं और गत्यात्मकताओं के अध्ययन है1
- मनुष्य स्वभाव से अकेला नही रहना चाहता 1 वह स्वभाव से ही व्यक्तियों से घिरा हुआ और बराबर गतिशील रहता है 1
- समाजशास्त्र मनुष्यो के संबंध सें उत्पन्न अन्तक्रियाओं का अध्ययन है1
- समाजशास्त्र मानव समाज का अध्ययन है1

- मनुष्य ओर केवल मनुष्य के पास ही संस्कृति हैं। इस संस्कृति कें कारण ही अन्य अन्तर दिखायी देंते हैं। संस्कृति के कारण मनुष्य आज पशु से लाखों गुणा ज्यादा अधिक विद्वान और उचां माना जाता हे।
- समाजशास्त्र सामाजिक संबंधों का विज्ञान है।
- स्माजशास्त्र के अध्ययन का केन्द्र बिन्दु सामाजिक संबंध है। सामाजिक संबंधो का अन्य कोई विज्ञान व्यवस्थित अध्ययन नही करता और सच्चाई यह है कि किसी विज्ञान के अध्ययन का विशेष संदर्श ही उसे अन्य विज्ञानों से पृथक करता है, मानव समाज का यह भव्य सत्य परिवर्तित होने वाले इन सामाजिक संबंधो के प्रतिमानो की ईंटो पर बना है ओर यही समाजशास्त्र की विषयवस्तु है।
- सामाजिक विज्ञान मनुष्य के विभिन्न क्षेत्रों के सामाजिक संबंधों का सामान्यीकरण ओर संकलन करने का विज्ञान है।
- परिवार, जाति, समूह, गाँव और राष्ट्र, सब समूह हैं। इन समूहो के सदस्य एक दुसरे के सम्पर्क मे आते हे। सामाजिक अनुभव जिस पद्धति से मनुष्यों के सामाजिक संबंधो को विकसित तथा परिपक्व करते है, वही समाजशास्त्र है।
- समाजशास्त्र वह विज्ञान है जिसका संबध सामाजिक संबंधों से है। समूहो से उसका यह संबध उसके आन्तरिक प्रकारो या संगठन की पद्धतियों को बनाऐ रखने मे परिर्वतन करने वाली प्रक्रियाओं और समूहों के संबधो से होता है।
- समाजशास्त्र के अर्थ के बिन्दु हैः समाजशास्त्र मानवीय समाज का अध्ययन है । समाजविज्ञान मनुष्य समाज की संस्कूति का अध्ययन है । समाज के केन्द्रीय आधार उसके अगणित समूहो मे जो सामाजिक संबध होते हैं, उन्ही का अध्ययन है । समाज के बदलते हुए संबधो का अध्ययन है । समाजशास्त्र समाज के सम्पूर्ण संबधो– राजनैतिक, आर्थिक, विंधि संबधी आदि का अध्ययन है।

- समाज विज्ञानों का प्रांरभिक स्वरूप केवल अटकलबाजी का था1 समाजशास्त्र के लिए यह समझा जाता है कि इसकी रूचि मनुष्य में हैं1 इसलिए इसके माध्यम से मनुष्य के बारे मे जितना भी ज्ञान एकत्र किया जायेगा, उतनी ही मनुष्य के समझ मे वृद्धि आएगी 1 ऐसे समाजशास्त्र में अटकलबजी के आधार पर ज्ञान का भण्डार था 1
- आधुनिक काल में विज्ञान की प्रगति के साथ समाजशास्त्र ने भी अपने आपको विज्ञान के सांचे मे ढालने का प्रयास किया है1
- समाजशास्त्र एक समाजविज्ञान है 1 लेकिन जो कुछ यहाँ कहा जा रहा है कि उसे कर पाना बहुत कठिन है1 किसी भी अनुसंधानकर्ता के लिए तटस्थता की भूमिका निभाना बहुत कठिन है1 उसकी स्वयं की पंसदगी या नापसंदगी होती है; उसकी स्वयं की वैचारिकी होती, और न चाहने पर भी वह स्वयं के दुराग्रह के भंवर में फंस जाता है1
- तथ्य जैसे भी होते हैं, बिना लाग-लपेट के समाजशास्त्री इन्हें प्रस्तुत करता है। यह प्रस्तुति तार्किक और अमूर्त होती है। कुंजी रूप में समाजशास्त्र, प्राकृतिक विज्ञान की विधि अवलोकन को अपना आधार मानकर चलता है। वह मनुष्य के व्यवहार का खुली आँखों और इन्द्रियों के माध्यम से अवलोकन करता है।
- किसी भी विज्ञान की बहुत बड़ी धरोहर उसकी तार्किक प्रकृति होती है। मेक्स वेबर ने अपनी सम्पूर्ण कृतियों में आग्रहपूर्वक कहा है कि समाजशास्त्र को अपना केन्द्रीय संदर्श विवेकशीलता को बनाना चाहिए। विवेकशीलता यादि तार्किकता वैज्ञानिक समाजशास्त्र की आधारशिला है।

1.4 सूचक शब्द :

समाजशास्त्र : समाजशास्त्र सामाजिक संबंधों का विज्ञान है1

मनुष्य व संस्कृति : मनुष्य ओर केवल मनुष्य के पास ही संस्कृति हैं1 इस संस्कृति कें कारण ही अन्य अन्तर दिखायी देंते हैं1 संस्कृति के कारण मनुष्य आज पशु से लाखों गुणा ज्यादा अधिक विद्वान और उचां माना जाता हे1

स्माजशास्त्र के अध्ययन : स्माजशास्त्र के अध्ययन का केन्द्र बिन्दु सामाजिक संबंध है1 सामाजिक संबंधो का अन्य कोई विज्ञान व्यवस्थित अध्ययन नही करता और सच्चाई यह है कि किसी विज्ञान के अध्ययन का विशेष संदर्श ही उसे अन्य विज्ञानों से पृथक करता है, मानव समाज का यह भव्य सत्य परिवर्तित होने वाले इन सामाजिक संबंधो के प्रतिमानो की ईंटो पर बना है ओर यही समाजशास्त्र की विषयवस्तु है1

सामाजिक विज्ञान : सामाजिक विज्ञान मनुष्य के विभिन्न क्षेत्रों के सामाजिक संबंधों का सामान्यीकरण ओर संकलन करने का विज्ञान है1

समाजशास्त्र व समूह : परिवार, जाति, समूह, गाँव और राष्ध्र, सब समूह हैं1 इन समूहो के सदस्य एक दुसरे के सम्पर्क मे आते हे1 सामाजिक अनुभव जिस पद्धति से मनुष्यों के सामाजिक संबंधो को विकसित तथा परिपक्व करते है, वही समाजशास्त्र **है**1

समाजशास्त्र व सामाजिक संबंध : समाजशास्त्र वह विज्ञान है जिसका संबध सामाजिक संबंधों से है1 समूहो से उसका यह संबध उसके आन्तरिक प्रकारो या संगठन की पद्धतियों को बनाऐ रखने मे परिर्वतन करने वाली प्रक्रियाओं और समूहों के संबधो से होता है1

समाजशास्त्र के बिन्दु : समाजशास्त्र के अर्थ के बिन्दु हैः समाजशास्त्र मानवीय समाज का अध्ययन है 1 समाजविज्ञान मनुष्य समाज की संस्कूति का अध्ययन है 1 समाज के केन्द्रीय आधार उसके अगणित समूहो मे जो सामाजिक संबध होते हैं, उन्ही का अध्ययन है

1 समाज के बदलते हुए संबधो का अध्ययन है 1 समाजशास्त्र समाज के सम्पूर्ण संबधो–राजनैतिक, आर्थिक, विधि संबधी आदि का अध्ययन है1

समाजशास्त्र व समाजविज्ञान : लेकिन जो कुछ यहाँ कहा जा रहा है कि उसे कर पाना बहुत कठिन है1 किसी भी अनुसंधानकर्ता के लिए तटस्थता की भूमिका निभाना बहुत कठिन है1 उसकी स्वयं की पंसदगी या नापसंदगी होती है; उसकी स्वयं की वैचारिकी होती, और न चाहने पर भी वह स्वयं के दुराग्रह के भंवर में फंस जाता है1

समाजशास्त्र व तथ्यों को प्रमाणित करना : विज्ञान की कसौटी प्रमाणीकरण है। जैसे भी तथ्य है उन्हें प्रयोगशाला में प्रमाणीकरण के लिये रखा जाता है। समाजशास्त्र भी तथ्यों का प्रमाणीकरण क्षेत्रीय कार्यो के माध्यम से करता हैं।

समाजशास्त्र व वैज्ञानिक विधियाँ : तथ्य जैसे भी होते हैं, बिना लाग–लपेट के समाजशास्त्री इन्हें प्रस्तुत करता है। यह प्रस्तुति तार्किक और अमूर्त होती है। कुंजी रूप में समाजशास्त्र, प्राकृतिक विज्ञान की विधि अवलोकन को अपना आधार मानकर चलता है। वह मनुष्य के व्यवहार का खुली आँखों और इन्द्रियों के माध्यम से अवलोकन करता है।

समाजशास्त्र व तार्किकता : किसी भी विज्ञान की बहुत बड़ी धरोहर उसकी तार्किक प्रकृति होती है। मेक्स वेबर ने अपनी सम्पूर्ण कृतियों में आग्रहपूर्वक कहा है कि समाजशास्त्र को अपना केन्द्रीय संदर्श विवेकशीलता को बनाना चाहिए। विवेकशीलता यादि तार्किकता वैज्ञानिक समाजशास्त्र की आधारशिला है।

समाजशास्त्र व सिद्धांतों की परीक्षा और पुनः परीक्षा : विज्ञान संचयी होता है, यह बराबर तथ्यों के आधार पर सिद्धांतों का संशोधन करता है। कहावत है : सस्ता रोये बार–बार, महंगा रोये एक बार। इसका अर्थ है कि महंगी वस्तु अधिक टिकाऊ और उपयोगी होती है। समाजशास्त्र के कई ऐसे सिद्धांत है जो बराबर आनुभाविक परीक्षण की कसौटी पर कसे जाते हैं।

फिनोमिनोलोजीकल उपागम : फिनोमिनीलोजी सिद्धांतवेत्ताओं का एक मात्र उद्देश्य समाज या दुनिया की वास्तविकता को जानना है। आखिर, वास्तविकता क्या है? दुनिया में कौन सी वस्तुएं अस्तित्व रखती हैं? और यदि दुनिया में जो कुछ वास्तविकता है, जिसका अस्तित्व है, उसे जानने की पद्धति क्या है? इन प्रश्नों के उत्तर में फिनोमिनोलोजी का कहना है कि समाज की वास्तविकता को जानने का तरीका केवल एक है और यह है, व्यकित का अनुभव, दुनिया में जो कुछ वास्तविक है उसे व्यक्ति अपनी इन्द्रियों और मानसिक प्रक्रियाओं द्वारा अनुभव करता है।

1.5 स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न :

1. समाजशास्त्र पर विस्तार से चर्चा करें। समाजशास्त्र की कम से कम दो परिभाषाएं दें।
2. कुछ महत्वपूर्ण परिभाषाएं देते हुए समाजशास्त्र की अवधारणा पर विस्तार से टिप्पणी लिखें।
3. समाजशास्त्र की कुछ परिभाषाओं पर चर्चा कीजिए।

1.6 संदर्भित पुस्तकें :

जन संचार मे स्नातक पाठ्यक्रम – द्वितीय वर्ष

समाजशास्त्र – बी एम सी 106

खण्ड अ इकाई एक पाठ संश्या 2

समाजशास्त्र और अन्य समाज विज्ञान

लेखकः प्रो0 एम एल गोयल ।

गोंर्वमेंट कॉलेज, हिसार ।

वैटरः प्रो0 बी के कुठियाला ।

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र ।

सिम शैली में परिर्वतनः श्री मिहिर रंजन पात्र ।

वरिष्ठ व्याख्याता, गुरु जम्भेश्वर विश्वविद्यालय, हिसार।

अध्याय संरचनाः

यह अध्याय आपको समाजशास्त्र और अन्य समाज विज्ञान की जानकारी देगा। अध्याय की संरचना इस प्रकार रहेगीः

2.0 उद्देश्य

2.1 परिचय

2.2 विषय वस्तु की प्रस्तुति

2.2.1 समाज विज्ञान का परिचय

2.2.2 समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र

2.2.3 समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्र

2.2.4 समाजशास्त्र और इतिहास

2.3 सारांश

2.4 सूचक शब्द

2.5 स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

2.6 संदर्भित पुस्तकें

2.0 उद्देश्यः

इस अध्याय के उद्देश्य इस प्रकार हैंः

- समाज विज्ञान के बारे में जानना
- समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र के बारे में जानना
- समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्र के बारे में जानना
- समाजशास्त्र और इतिहास के बारे में जानना

2.1 परिचय :

समाजशास्त्र सामाजिक संबंधों का समाज विज्ञान है। यह मनुष्य के सभी तरह के सामाजिक संबंधों का अध्ययन करता है। ये सामाजिक संबंध आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक और आपराधिक हो सकते हैं। समाज के इन सब क्षेत्रों का अध्ययन समाजशास्त्र करता है, लेकिन ऐसा करने में अनिवार्य रूप से इसका संदर्श या नजरिया सामाजिक संबंधों को होता है। सब मिलाकर समाजशास्त्र का मतलब हुआ सामाजिक संबंधों का अध्ययन। सामाजिक संबंध सामाजिक संस्थाओं में देखे जाते हैं। ये संस्थाएँ परिवार, जाति, पंचायत, धार्मिक सम्प्रदाय, आदि है।

बहुत समय पहले ई. 1901 में दुर्खीम ने कहा था कि समाजशास्त्र वस्तुतः संस्थाओं के अध्ययन का विज्ञान है। आज जब विश्वव्यापीकरण हो रहा है, विकासशील देशों

में उदारीकरण की नीति लागू की जा रही है, समाजशास्त्र वृहदकरण औपचारिक संगठनों का अध्ययन करता है। यदि मोटे रूप में कहना हो तो कहेंगे कि समाजशास्त्र सम्पूर्ण समाज का अध्ययन करता है और इस तरह के अध्ययन में इसका संदर्श सामाजिक संबंध होते हैं। समाज की संरचना में कइ संस्थाएँ होती है। ये विभिन्न संस्थाएँ अपने प्रकार्यों द्वारा एक–दूसरे से और सम्पूर्ण समाज से जुड़ी होती है। इस भांति समाजशास्त्र समाज और उसकी विभिन्न संस्थाओं का अध्ययन सामाजिक संबंधों के संदर्श में करता है।

बेंजामिन किड ने द एनसाइक्लोपेडिया ब्रिटेनिया के ग्यारहवें संस्करण में लिखा है कि 17वी शताब्दी के बाद निश्चित रूप से पाश्चात्य दर्शनशास्त्र में जो भी महान योगदान हुआ है उसका मुख्य सरोकार समाज के विज्ञान यानी समाजशास्त्र से है। आगे चलकर वे लिखते हैं कि कई वर्षो से समाज विज्ञानों में समाजशास्त्र के पर्यायवाची शब्दों में राजनीति, राजनीतिक विज्ञान, सामाजिक अर्थशास्त्र, सामाजिक दर्शनशास्त्र और समाज विज्ञान आदि पदों का प्रयोग हुआ है।

वस्तुतः समाजशास्त्र का संबंध या इसका उद्‌गम दर्शनशास्त्र से है। सभी समाज विज्ञानों की गंगोत्री मूल स्त्रोत दर्शनशास्त्र है। जब दर्शनशास्त्र अत्यधिक तार्किक हो गया, इसने अनुभविकता से अपने आपको अलग कर दिया, उसी समय से समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र आदि इससे अलग हो गये। इन समाज विज्ञानों का जुड़ाव आनुभविकता जमीन से जुड़ी है। इस अर्थ में सभी समाज विज्ञानों का मूल रूप से दर्शनशास्त्र से संबंध है। ये समाज विज्ञान की तरह की बांधव व्यवस्था को बनाते हैं।

अतः जब हम समाजशास्त्र को अन्य समाज विज्ञानों के साथ जोड़ते हैं तो स्पष्ट रूप से ये समाज विज्ञान एक अपराधशास्त्र, इतिहास आदि समाज विज्ञानों की श्रेणी में आते हैं। इन सब समाज विज्ञानों का संबंध समाजशास्त्र से है। यहाँ हम इन समाज विज्ञानों के पारस्परिक संबंधों को देखेंगे। ऐसा करने में हम अनिवार्य रूप से समाजशास्त्र

के सार भार संदर्श यानी सामाजिक संबंधों, संस्थाओं और पूरे समाज को ध्यान में रखेंगे। यदि संदर्श को सूत्र रूप में कहेंगे तो कहना होगा किः

समाजशास्त्रीय संदर्श = सामाजिक संबंध + संस्थाओं का अध्ययन + अन्ततः सम्पूर्ण समाज का अध्ययन

2.2 विषय वस्तु की प्रस्तुतिः

इस अध्याय में विषय वस्तु का प्रस्तुतिकरण इस प्रकार रहेगाः

- समाज विज्ञान का परिचय
- समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र
- समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्र
- समाजशास्त्र और इतिहास

2.2.1 समाज विज्ञान का परिचय :

समाजशास्त्र अन्य समाज विज्ञानों के साथ संबंधों को बताने से पहले हमें समाज विज्ञानों के अर्थ को स्पष्ट कर लेना चाहिये। सभी समाजविज्ञानों का महत्वपूर्ण उद्देश्य मनुष्य जाति के विकास को आगे बढ़ाना है। अन्ततोगत्वा सम्पूर्ण मनुष्य समाज का एक मात्र मुहावरा मनुष्य को सुखी और खुशहाल बनाना है।

मनुष्य की भिन्न-भिन्न आवश्यकताएँ और इच्छाएं हैं और इसी कारण उसका जीवन कई पहलुओं में बढ़ गया है। एक साथ और एक ही समय में वह कई गतिविधियों में संलग्न रहता है। समाज विज्ञान मनुष्य की इन्हीं गतिविधियों का अध्ययन करते हैं। इनसाइक्लोपेडिया ऑफ सोशल साइन्सेज के पहले खण्ड में सेलीगमेन ने इन समाज विज्ञानों की परिभाषा करते हुए लिखा है :

समाज विज्ञान वे मानसिक या सांस्कृतिक विज्ञान है जोकि मनुष्य की एक समूह के सदस्य होने के नाते गतिविधियों का अध्ययन करते हैं।

विभिन्न समाज विज्ञानों में इस बात की समानता होते हुए भी वे सभी मनुष्य समूहों का अध्ययन करते हैं, उनमें एक मूलभूत अंतर है। यह अंतर विभिन्न संदर्शो का है। उदाहरण के लिये, अर्थशास्त्र मनुष्य की आर्थिक क्रियाओं के अध्ययन से जुड़ा है। मनुष्य की और क्रियाएँ क्या है, इस पक्ष के प्रति वे मौन हैं। इसी भांति इतिहास के अतीत के समाज का अध्ययन करता है, लेकिन आधुनिक समाज की संरचना कैसी है, इस ओर उसका ध्यान नहीं है। संदर्श में अंतर आ जाने से समाज विज्ञानों में भी अंतर आ जाता है।

संदर्श के आधार पर समाज विज्ञानों में आने वाले अंतर का यहाँ हम उल्लेख करेंगे। इसे एक दृष्टान्त से और स्पष्ट किया जा सकता है। हम जब किसी जंगल को देखते हैं तो इसके प्रति हमारे संदर्श को लेकर विभिन्न अंतर स्पष्ट होते हैं। जब अर्थशास्त्री इस जंगल को देखता है तो उसे लगता है कि जंगल की लकड़ी का प्रयोग रेल की पटरियों के निर्माण में बहुत उपयोगी होता है। जंगल से प्राप्त लघु उत्पाद से सामान्य लोगों की जीविका को बड़ा सहारा मिल जाता है। अर्थशास्त्री जंगल को केवल अपने संदर्श यानी उत्पादन, वितरण, विनिमय और उपभोग की दृष्टि से देखता है। इसी जंगल को साहित्य प्रेमी सौन्दर्यबोध के संदर्श से देख सकता है।

पर्यावरणवादी को संदर्श कुछ दूसरा ही होगा, वह इसे प्रकृति में उत्पन्न होने वाले असंतुलन के दृष्टिकोण से देखेगा। दृष्टान्त को और आगे बढ़ाया जा सकता है। इसमें महत्वपूर्ण बिन्दु यह है कि जब हम किसी सामाजिक इकाई को देखते हैं तो निश्चित रूप से एक या अधिक संदर्शों को काम में लेते हैं। ये संदर्श सामाजिक इकाई के विभिन्न आयामों को स्पष्ट करने में सहायक होते हैं।

समाज विज्ञानों में किन विषयों को सम्मिलित किया जाए, इस पर बहस है। कुछ समाज वैज्ञानिकों का कहना है कि भूगोल विषय समाज विज्ञान की कोटि में नहीं आता। इसी तरह इतिहास भी समाज विज्ञान की श्रेणी में नहीं आता। इन विवादों के चलते हुए निश्चित रूप से यह कहना कठिन है कि कौन से विषय समाज विज्ञान की श्रेणी में आते हैं, और कौन से नहीं। बहस के होते हुए भी कुछ समाज विज्ञानों के बारे में मतभेद है। समाजशास्त्र, सामाजिक, मानवशास्त्र, राजनीति शास्त्र, अर्थशास्त्र, अपराधशास्त्र, सामाजिक मनोविज्ञान आदि ऐसे विषय हैं जो समाज विज्ञानों की श्रेणी में आते हैं। इन सब विज्ञानों का समाजशास्त्र से जो संबंध है – समानता और अन्तर का, इसका उल्लेख हम अगले पृष्ठों में करेंगे।

2.2.2 समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र :

समाजशास्त्रीय अकादमिक क्षेत्र में कई बार अर्थशास्त्र को एक मनहूस या निराशाजनक विज्ञान कहा जाता है। ऐसा कहने में समाजशास्त्रियों को एक खास तरह की राहत मिलती है लेकिन यह सब समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र के निश्चित संबंधों को नहीं बताता।

अर्थशास्त्र को उत्पादन और वितरण के अध्ययन का समाज विज्ञान कहा जाता है। पश्चिमी दुनिया में अर्थशास्त्र का विकास एक संस्थापित क्लासिकल सम्प्रदाय के रूप में हुआ है। इसका विकास बताता है कि इसने अपना एकमात्र सम्बन्ध आर्थिक चरों के साथ रखा है। उदाहरण के लिये अर्थशास्त्र ने अपने आपको मूल्य और माँग, मुद्रास्फीती तथा लाभ–हानि के साथ जोड़ा है।

बहुत कम यह विषय व्यक्ति के वास्तविक आर्थिक व्यवहार या अभिप्रेरण का अध्ययन करता है। इस अभाव के कारण आर्थिक जीवन के बारे में हमारे ज्ञान में जो कमी है उसकी जानकाी हमें नहीं देता। महत्वपूर्ण बात यह है कि इस समाज विज्ञान में

वास्तविक आर्थिक घटनाओं का पर्याप्त विवरण नहीं मिलता। यह अवश्य है कि हाल में कुछ अर्थशास्त्रियों ने आर्थिक संस्थाओं के संदर्भ में अभिप्रेरण पर थोड़ा ध्यान दिया है।

मानवशास्त्री हॉबेल ने एक स्थान पर अर्थशास्त्र की व्याख्या करते हुए लिखा है :

> **अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो मनुष्य के व्यवहार का इस दृष्टिकोण से अध्ययन करता है कि वह किस प्रकार अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति सीमित साधनों से जिनमें से प्रत्येक एक से अधिक उपयोग में आ सकता है, करता हें ।**

दूसरे शब्दों में, हॉबेल के अनुसार अर्थशास्त्र सम्पति के उत्पादन, वितरण और विनियोग और उपभोग को ध्यान में रखकर मनुष्य की क्रियाओं का अध्ययन करता हे। दूसरी ओर समाजशास्त्र इन आर्थिक क्रियाओं को सामाजिक सम्बन्धों के संदर्श में देखता है और यही इन दो विषयों का संबंध है। अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र के सम्बन्धों को निम्न बिन्दुओं में रखा जा सकता है।

(1) आर्थिक क्रियाओं का निर्धारण सामाजिक संगठ्न से होता है :

मनुष्य की आर्थिक क्रियाओं पर सामाजिक संगठ्न का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। अर्थशास्त्र का मांग और पूर्ति का नियम बहुत सीमा तक समाज की संरचना पर क्रियान्वित होता है। मनुष्य की मांग जिन कारणों से होती है, वे कारण सामाजिक है। अतः समाज की परम्पराएँ, रूढ़ियाँ और फैशन मांग की दर को निश्यित करते हैं। उदाहरण के लिये, किसी समाज में स्त्रियाँ पर्दा छोड़ देती है, ऊंची शिक्षा ग्रहण करती हैं और दफ्तरों और कारखानों में काम करने को तैयार होती हैं तो इस स्थिति में बेकारी अधिक हो जाती है। अतः

कहना उचित होगा कि आर्थिक क्रियाओं और गतिविधियों में सामाजिक आवश्यकता और क्रियाओं का स्थान शीर्ष होता है।

(2) आर्थिक क्रियाएँ सामाजिक संगठन को भी प्रभावित करती है :

अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र एक दूसरे के लिये पारस्परिक है। सामाजिक और आर्थिक कारकों का एक दूसरे के साथ सम्बन्ध होता है। आर्थिक क्रियाएँ सामाजिक संगठन को प्रभावित करती हैं। कार्ल मार्क्स का तो सिद्धान्त ही यही था कि आर्थिक संरचना ही सामाजिक और सांस्कृतिक संरचना को निश्चित करती है। उनका कहना था कि मानव समाज का इतिहास गरीब और अमीर, दो वर्गों की आर्थिक क्रियाओं का इतिहास है। आज समाज में बेकारी, गरीबी, भिक्षावृति आदि समस्याएँ है। अस्पृष्यता जैसी समस्या का मूल तो आर्थिक ही है। इस दृष्टि से समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र एक दूसरे के पूरक समाज विज्ञान है।

(3) समाज के समस्याओं का अध्ययन :

समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र इतने घुले-मिले हैं कि कई समस्याओं का अध्ययन दोनों ही विज्ञान समान रूप से करते हैं। यद्यपि इन समस्याओं के अध्ययन में दोनों का संदर्श भिन्न होता है, फिर भी मूलरूप से दोनों के अध्ययन की दिलचस्पी एक ही है। श्रम कल्याण, श्रम विभाजन बेकारी, निर्धनता, जनसंख्या की वृद्धि आदि विषयों का अध्ययन दोनों ही विज्ञान करते हैं।

(4) अध्ययन विधि में अंतर :

निश्चित रूप से समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र की अध्ययन सामग्री एक जैसी ही है। इस समानता के होते हुए भी अध्ययन विधियों के क्षेत्र में दोनों ही समाज विज्ञान भिन्न है। बिना किसी बहस के स्वीकार किया जाता है कि अर्थशास्त्र एक प्रत्यक्षवादी समाज विज्ञान है लेकिन समाजशास्त्र को कई विद्वान प्रत्यक्षवादी नहीं मानते। वे इस पर इथनोमेथडोलोजी का आरोप लगाते हैं। कुछ विद्वान तो जिनमें पीटर बर्जर, सी0 राइट मिल्स आदि हैं, कहते हैं कि समाजशास्त्र विज्ञान की कोटि में नहीं रखा जा सकता।

अर्थशास्त्री सामान्यतया सांख्यिकी विधि को अपनाते हैं। यह सांख्यिकी आनुभाविक रूप से संग्रहित नहीं होती। अर्थशास्त्र की अधिकांश सांख्यिकी द्वितीयक होती है। अर्थशास्त्री क्षेत्रीय कार्य को नहीं करता, वह तो अपनी डेस्क पर बैठकर संग्रहित की गयी सामग्री का विश्लेषण मात्र करता है।

2.2.3 समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्र :

समाज विज्ञानों में राजनीतिशास्त्र का इतिहास बहुत पुराना है। इसके संस्थापकों में सुकरात और अरस्तू के नाम लिये जाते हैं। हमारे देश में राजनीतिशास्त्र का अर्थ सरकार, विधायिका, न्यायपालिका, कार्यपालिका तथा सरकारी प्रशासन से लिया जाता है। दूसरे शब्दों में पंचायत राज से लेकर संसद तक जो कुछ भी तय किया जाता है, यह सब राजनीतिशास्त्र का अध्ययन क्षेत्र है। इसके अतिरिक्त प्रशासनात्मक ढ़ांचा भी अध्ययन का केन्द्रीय क्षेत्र है। अमेरिका में राजनीतिशास्त्र का अध्ययन क्षेत्र मुख्यता सरकार तक सीमित है।

सरकार के अन्तर्गत दो तत्व है : राजनीतिक सिद्धांत और सरकार द्वारा चलाया गया प्रशासन। इन दोनों तत्वों में कहीं भी राजनैतिक व्यवहार को अध्ययन का केन्द्र नहीं बनाया जाता। जब राजनीतिक सिद्धांत को विश्वविद्यालय में पढ़ाया जाता है तब अमेरीका में उन

विचारों का विश्लेषण किया जाता है जिनका संबंध सरकार से होता है। ऐसा करने में वे प्लेटो से लेकर मेकियावली और रूसो से लेकर मार्क्स तक की सरकार के प्रति जो विचारधारा है, उसका विश्लेषण करते हैं। अमेरिका में प्रशासनात्मक गतिविधियों में औपचारिक संगठनों का उल्लेख किया जाता है।

हाल में राजनीतिशास्त्र का जो वृहत् अर्थ लिया जाता है इसका केन्द्र शक्ति है। जहाँ कहीं शक्ति से जुड़े हुए सम्बन्ध होते हैं, उन सभी का अध्ययन राजनीति शास्त्र करता है। इस अर्थ में राजनीतिशास्त्र का क्षेत्र बहुत बड़ा हो जाता है। राजनीतिक दलों का अध्ययन, मतव्यवहार आदि राजनीतिक विज्ञान के नये अध्ययन क्षेत्र है। हमारे देश में तो आम चुनाव होते है तब राजनीतिशास्त्र की भूमिका महत्वपूर्ण बन जाती है। जाति और धर्म के आधार पर राजनीतिक दलों में गठजोड़ होता है, वह भी राजनीतिशास्त्र का एक नवीन अध्ययन क्षेत्र है।

समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्र एक दूसरे से बहुत निकट है। यह निकटता इतनी ज्यादा है कि समाजशास्त्र में राजनीतिक समाजशास्त्र की एक नयी शाखा विकसित हो गयी। राजनीतिक समाजशास्त्र वह ज्ञान शाखा है जो समाजशास्त्र और राजनीतिक विज्ञान को जोड़ती है। समाजशास्त्र समाज की विभिन्न संस्थाओं के पारस्परिक सम्बन्धों पर जोर देता है। इसके अन्तर्गत सरकार भी आ जाती है।

दूसरी ओर राजनीतिशास्त्र भी सरकार के अन्तर्गत जो प्रक्रियाएँ होती है उनको अपने अध्ययन का केन्द्र बनाता है। रूचिकर तथ्य यह है कि कुछ समाजशास्त्री जैसे कि मेक्स वेबर या रोबर्ट मिचेल्स जो मूल में समाजशास्त्री है, राजनीतिशास्त्र के लिये भी महत्वपूर्ण बन गये हैं।

अमेरिका के राजनीतिक समाजशास्त्री एस.एम. लिपसेट ने राजनीतिशास्त्र और समाजशास्त्र के अन्तर को निम्न शब्दों में व्यक्त किया है :

राजनीतिशास्त्र का सरोकार लोक प्रशासन से है। दूसरे शब्दों में, राजनीतिशास्त्र यह देखता है कि सरकारी तन्त्र को किस भांति प्रभावशाली बनाया जाए।

2.2.4 समाजशास्त्र और इतिहास :

इतिहास विगत की घटनाओं का क्रमबद्ध वर्णन है। घटनाएँ जितनी प्राचीन होती है, इतिहासकार के लिये उतना ही अच्छा होता है। इतिहास सभ्यताओं के उत्थान और पतन की दास्तान है। उदाहरण के लिये, आरनोल्ड जे0 टोयनबी ने अपनी पुस्तक ए स्टडी ऑफ हिस्ट्री में विश्व की सम्पूर्ण सभ्यताओं के उतार–चढ़ाव का विवरण तेरह खण्डों में प्रस्तुत किया है। इसी भांति एच.जी.वेल्स ने भी सभ्यताओं के उद्विकास का विवरण अपनी पुस्तक में रखा है।

यदि विदेशी और भारतीय इतिहास के साहित्य को देखें तो स्पष्ट हो जाएगा कि इतिहास एक निश्चित काल में होने वाली वृहत् घटनाओं का ब्यौरा देता है। इसका मतलब यह हुआ कि घटनाओं के साथ जो व्यवहार जुड़ा हुआ है, उसका उल्लेख भी इतिहास करता है। इतिहास का यह पक्ष ही इसे समाजशास्त्र के साथ जोड़ता है। सामान्यतया इतिहास और समाजशास्त्र दोनों ही मनुष्यों के सामाजिक सम्बन्धों का विश्लेषण करते हैं। अन्तर केवल यह है कि जहाँ इतिहास मनुष्य की अतीत की घटनाओं का वर्णन करता है, वहाँ समाजशास्त्र दोनों ही मनुष्य के सामाजिक सम्बन्धों का विश्लेषण करता है। शायद इसी कारण जॉन हावर्ड ने कहा है कि इतिहास अतीत का समाजशास्त्र और समाजशास्त्र वर्तमान का इतिहास।

जिस तरह मानवशास्त्र अपने कलेवर में वृहत् है, वैसे ही इतिहास की परिभाषा भी बहुत विशद है। कहना चाहिए कि परिभाषा के अर्थ में इतिहास के कई प्रकार है। भारतीय इतिहासकार बिपनचन्द्र और डी.डी. कोसाम्बी का कहना है कि वास्तव में इतिहास तो मार्क्सवादी है। मार्क्सवादी इतिहास उत्पादन शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों की अवधारणाओं

में बंधा होता है। भारत में ही नहीं, विदेशों में भी इतिहास की व्याख्या मार्क्सवादी संदर्श में की गयी है। यह इतिहास की एक परम्परा है। दूसरी परम्परा हाल ही विकसित की गयी है। इसे सब-आल्टर्न अध्ययन कहा जाता है।

इतिहास के विश्लेषण के लिये इस तरह के संदर्श को सबसे पहली बार रणजीत गुहा ने अपनाया। उनका आग्रह है कि सब-आल्टर्न यानी उपेक्षितों और पद दलितों का इतिहास परम्परागत इतिहासकारों ने कभी भी नहीं लिखा है ये इतिहासकार तो राजाओ-महाराजाओं, किलों और लड़ाइयों के ही विवरण में लिप्त रहे हैं। यदि उन्होनें राजा भोज का इतिहास लिखा है तो रणजीत गुहा का तर्क है कि गंगु तेली का इतिहास भी लिखा जाना चाहिए। सब-आल्टर्न इतिहासकारों में रणजीत गुहा के अतिरिक्त डेविड हार्डीमेन, दीपेश चक्रवर्ती, शहीद अमीन, ज्ञानेन्द्र पांडे का उल्लेख किया जाता है। रणजीत गुहा और उनकी विचारधारा के इतिहासकारों ने सब-आल्टर्न स्टडीज के एक दर्जन से अधिक सम्पादित ग्रन्थ प्रकाशित किये हैं।

(1) सामान्यता इतिहास राजाओं, महाराजाओं और युद्धों का विवरण है :

हमारे देश में इतिहास का जो बोध विद्यार्थियों और अध्यापकों में है, वह यह है कि समाज विज्ञान राजाओं, महाराजाओं, उनकी शान-शौकत, किलों और युद्धों के वर्णन का हे। हल्दीघाटी की लड़ाई या शिवाजी महाराजा का शौर्यः अकबर या शेरशाह के किलों और मुद्दों का वर्णन, ऐसी घटनाएँ इतिहास की अध्ययन वस्तु हैं। यह सब करते हुए इतिहास कहीं भी यह नहीं बताता कि उस युग में भूमि सम्बन्ध कैसे थे, रैयत की क्या दशा थी और स्त्रियों को समाज में कौन-सा स्थान प्राप्त था। सामाजिक सम्बन्धों का सम्पूर्ण मुद्दा इतिहासकार की नजर से दूर रहता है और यही इन दो समाज विज्ञानों का पारस्परिक सम्पर्क होते हुए भी, अंतर है।

(2) इतिहास वर्णात्मक और समाजशास्त्र विश्लेषणात्मक है :

इतिहास वर्णन प्रधान है। अतीत में घटनाएँ जैसे घट्ती गई, वैसे ही इतिहास में उन्हें अंकित किया जाता है। इतिहास एक प्रकार से घटनाओं का 'टेप रिकॉर्डर' है। उदाहरण के लिए भारतीय इतिहास में पहले द्रविड़ लोग आये, फिर आर्य और उसके बाद मोर्य और गुप्त साम्राज्य आये। इस तरह घटनाओं का सिलसिला चलता रहा। संसार में पहला विश्वयुद्ध हुआ। घटनाओं के इस क्रम को इतिहास बांधता चलता है। इसकी प्रकृति इस भांति, वर्णनात्मक है।

समाजशास्त्र, इन घटनाओं में सामाजिक सम्बन्धों का जो इतिहास है उसका विश्लेषण करता है। समाजशास्त्र युद्धों में, राष्ट्रों में दिलचस्पी न रखकर समूहों के बीच में होने वाले संघर्षों का अध्ययन करता है। आज भारत में हिन्दू और मुसलमानों में यानी दो समुदायों में जो सम्बन्ध है, उनके उद्गम को इतिहास में खोजता है। इस खोज के सम्बन्धों के पीछे जो पृष्ठभूमि है, उसे ठीक से समझने में सहायता देता है। इस भांति जहां इतिहास का कर्तव्य केवल घटनाओं के वर्णन में ही समाप्त हो जाता है, वहाँ समाजशास्त्र उनका सामाजिक तत्वों और अन्तःक्रियाओं की दृष्टि से अध्ययन करता है।

2.3 सारांश :

- समाजशास्त्र सामाजिक संबंधों का समाज विज्ञान है। यह मनुष्य के सभी तरह के सामाजिक संबंधों का अध्ययन करता है।
- समाज विज्ञानों में समाजशास्त्र के पर्यायवाची शब्दों में राजनीति, राजनीतिक विज्ञान, सामाजिक अर्थशास्त्र, सामाजिक दर्शनशास्त्र और समाज विज्ञान आदि पदों का प्रयोग हुआ है।

- सभी समाज विज्ञानों की गंगोत्री मूल स्त्रोत दर्शनशास्त्र है। जब दर्शनशास्त्र अत्यधिक तार्किक हो गया, इसने अनुभविकता से अपने आपको अलग कर दिया, उसी समय से समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र आदि इससे अलग हो गये।
- समाज विज्ञान वे मानसिक या सांस्कृतिक विज्ञान है जोकि मनुष्य की एक समूह के सदस्य होने के नाते गतिविधियों का अध्ययन करते हैं।
- अर्थशास्त्र मनुष्य की आर्थिक क्रियाओं के अध्ययन से जुड़ा है। अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो मनुष्य के व्यवहार का इस दृष्टिकोण से अध्ययन करता है कि वह किस प्रकार अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति सीमित साधनों से जिनमें से प्रत्येक एक से अधिक उपयोग में आ सकता है, करता हें ।
- इतिहास के अतीत के समाज का अध्ययन करता है, लेकिन आधुनिक समाज की संरचना कैसी है, इस ओर उसका ध्यान नहीं है।
- समाजशास्त्र, सामाजिक, मानवशास्त्र, राजनीति शास्त्र, अर्थशास्त्र, अपराधशास्त्र, सामाजिक मनोविज्ञान आदि ऐसे विषय हैं जो समाज विज्ञानों की श्रेणी में आते हैं।
- समाजशास्त्रीय अकादमिक क्षेत्र में कई बार अर्थशास्त्र को एक मनहूस या निराशाजनक विज्ञान कहा जाता है। ऐसा कहने में समाजशास्त्रियों को एक खास तरह की राहत मिलती है लेकिन यह सब समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र के निश्चित संबंधों को नहीं बताता।
- मनुष्य की आर्थिक क्रियाओं पर सामाजिक संगठन का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। अर्थशास्त्र का मांग और पूर्ति का नियम बहुत सीमा तक समाज की संरचना पर क्रियान्वित होता है। मनुष्य की मांग जिन कारणों से होती है, वे कारण सामाजिक है।

- अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र एक दूसरे के लिये पारस्परिक है। सामाजिक और आर्थिक कारकों का एक दूसरे के साथ सम्बन्ध होता है। आर्थिक क्रियाएँ सामाजिक संगठन को प्रभावित करती हैं। कार्ल मार्क्स का तो सिद्धान्त ही यही था कि आर्थिक संरचना ही सामाजिक और सांस्कृतिक संरचना को निश्चित करती है।
- समाज विज्ञानों में राजनीतिशास्त्र का इतिहास बहुत पुराना है। इसके संस्थापकों में सुकरात और अरस्तू के नाम लिये जाते हैं। हमारे देश में राजनीतिशास्त्र का अर्थ सरकार, विधायिका, न्यायपालिका, कार्यपालिका तथा सरकारी प्रशासन से लिया जाता है।
- समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्र एक दूसरे से बहुत निकट है। यह निकटता इतनी ज्यादा है कि समाजशास्त्र में राजनीतिक समाजशास्त्र की एक नयी शाखा विकसित हो गयी। राजनीतिक समाजशास्त्र वह ज्ञान शाखा है जो समाजशास्त्र और राजनीतिक विज्ञान को जोड़ती है। समाजशास्त्र समाज की विभिन्न संस्थाओं के पारस्परिक सम्बन्धों पर जोर देता है। इसके अन्तर्गत सरकार भी आ जाती है।
- राजनीतिशास्त्र का सरोकार लोक प्रशासन से है। दूसरे शब्दों में, राजनीतिशास्त्र यह देखता है कि सरकारी तन्त्र को किस भांति प्रभावशाली बनाया जाए।
- इतिहास विगत की घटनाओं का क्रमबद्ध वर्णन है। घटनाएँ जितनी प्राचीन होती है, इतिहासकार के लिये उतना ही अच्छा होता है। इतिहास सभ्यताओं के उत्थान और पतन की दास्तान है। इतिहास का यह पक्ष ही इसे समाजशास्त्र के साथ जोड़ता है। सामान्यतया इतिहास और समाजशास्त्र दोनों ही मनुष्यों के सामाजिक सम्बन्धों का विश्लेषण करते हैं। अन्तर केवल यह है कि जहाँ इतिहास मनुष्य की अतीत की घटनाओं का वर्णन करता है, वहाँ समाजशास्त्र दोनों ही मनुष्य के सामाजिक

सम्बन्धों का विश्लेषण करता है। शायद इसी कारण जॉन हावर्ड ने कहा है कि इतिहास अतीत का समाजशास्त्र और समाजशास्त्र वर्तमान का इतिहास।

2.4 सूचक शब्द :

समाजशास्त्र : समाजशास्त्र सामाजिक संबंधों का समाज विज्ञान है। यह मनुष्य के सभी तरह के सामाजिक संबंधों का अध्ययन करता है। समाज विज्ञानों में समाजशास्त्र के पर्यायवाची शब्दों में राजनीति, राजनीतिक विज्ञान, सामाजिक अर्थशास्त्र, सामाजिक दर्शनशास्त्र और समाज विज्ञान आदि पदों का प्रयोग हुआ है।

समाजशास्त्र का उद्गम : समाजशास्त्र का संबंध या इसका उद्गम दर्शनशास्त्र से है। सभी समाज विज्ञानों की गंगोत्री मूल स्त्रोत दर्शनशास्त्र है। जब दर्शनशास्त्र अत्यधिक तार्किक हो गया, इसने अनुभविकता से अपने आपको अलग कर दिया, उसी समय से समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र आदि इससे अलग हो गये।

समाज विज्ञान : समाज विज्ञान वे मानसिक या सांस्कृतिक विज्ञान है जोकि मनुष्य की एक समूह के सदस्य होने के नाते गतिविधियों का अध्ययन करते हैं।

अर्थशास्त्र : अर्थशास्त्र मनुष्य की आर्थिक क्रियाओं के अध्ययन से जुड़ा है। अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो मनुष्य के व्यवहार का इस दृष्टिकोण से अध्ययन करता है कि वह किस प्रकार अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति सीमित साधनों से जिनमें से प्रत्येक एक से अधिक उपयोग में आ सकता है, करता हें ।

इतिहास : इतिहास के अतीत के समाज का अध्ययन करता है, लेकिन आधुनिक समाज की संरचना कैसी है, इस ओर उसका ध्यान नहीं है।

समाज विज्ञानों में सम्मिलित विषय : समाजशास्त्र, सामाजिक, मानवशास्त्र, राजनीति शास्त्र, अर्थशास्त्र, अपराधशास्त्र, सामाजिक मनोविज्ञान आदि ऐसे विषय हैं जो समाज विज्ञानों की श्रेणी में आते हैं।

समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र : समाजशास्त्रीय अकादमिक क्षेत्र में कई बार अर्थशास्त्र को एक मनहूस या निराशाजनक विज्ञान कहा जाता है। ऐसा कहने में समाजशास्त्रियों को एक खास तरह की राहत मिलती है लेकिन यह सब समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र के निश्चित संबंधों को नहीं बताता।

समाज के समस्याओं का अध्ययन : समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र इतने घुले–मिले हैं कि कई समस्याओं का अध्ययन दोनों ही विज्ञान समान रूप से करते हैं। यद्यपि इन समस्याओं के अध्ययन में दोनों का संदर्श भिन्न होता है, फिर भी मूलरूप से दोनों के अध्ययन की दिलचस्पी एक ही है। श्रम कल्याण, श्रम विभाजन बेकारी, निर्धनता, जनसंख्या की वृद्धि आदि विषयों का अध्ययन दोनों ही विज्ञान करते हैं।

समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्र : समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्र एक दूसरे से बहुत निकट है। यह निकट्ता इतनी ज्यादा है कि समाजशास्त्र में राजनीतिक समाजशास्त्र की एक नयी शाखा विकसित हो गयी। राजनीतिक समाजशास्त्र वह ज्ञान शाखा है जो समाजशास्त्र और राजनीतिक विज्ञान को जोड़ती है। समाजशास्त्र समाज की विभिन्न संस्थाओं के पारस्परिक सम्बन्धों पर जोर देता है। इसके अन्तर्गत सरकार भी आ जाती है।

समाजशास्त्र और इतिहास : इतिहास विगत की घटनाओं का क्रमबद्ध वर्णन है। घटनाएँ जितनी प्राचीन होती है, इतिहासकार के लिये उतना ही अच्छा होता है। इतिहास सभ्यताओं के उत्थान और पतन की दास्तान है। इतिहास का यह पक्ष ही इसे समाजशास्त्र के साथ जोड़ता है। सामान्यतया इतिहास और समाजशास्त्र दोनों ही मनुष्यों के सामाजिक सम्बन्धों का विश्लेषण करते हैं। अन्तर केवल यह है कि जहाँ इतिहास मनुष्य की अतीत की

घटनाओं का वर्णन करता है, वहाँ समाजशास्त्र दोनों ही मनुष्य के सामाजिक सम्बन्धों का विश्लेषण करता है। शायद इसी कारण जॉन हावर्ड ने कहा है कि इतिहास अतीत का समाजशास्त्र और समाजशास्त्र वर्तमान का इतिहास।

राजाओं, महाराजाओं और युद्धों का विवरण :

हमारे देश में इतिहास का जो बोध विद्यार्थियों और अध्यापकों में है, वह यह है कि समाज विज्ञान राजाओं, महाराजाओं, उनकी शान–शौकत, किलों और युद्धों के वर्णन का हे। हल्दीघाटी की लड़ाई या शिवाजी महाराजा का शौर्यः अकबर या शेरशाह के किलों और मुद्दों का वर्णन, ऐसी घटनाएँ इतिहास की अध्ययन वस्तु हैं।

2.5 स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्नः

1. समाज विज्ञान के तत्वों के बारे में विस्तार से बताएं।
2. समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र के बारे में विस्तार से रोशनी डालिए।
3. समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्र के बारे में विस्तार से बताए?
4. समाजशास्त्र और इतिहास पर प्रकाश डालिए।

जन संचार मे स्नातक पाठ्यक्रम – द्वितीय वर्ष

समाजशास्त्र – बी एम सी 106

खण्ड अ इकाई दो पाठ संश्या 3

समाज, समुदाय, समूह, व संस्था

लेखकः प्रो0 एम एल गोयल ।

गोंर्वमेंट कॉलेज, हिसार ।

वैटरः प्रो0 बी के कुठियाला ।

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र ।

सिम शैली में परिर्वतनः श्री मिहिर रंजन पात्र ।

वरिष्ठ व्याख्याता, गुरु जम्भेश्वर विश्वविद्यालय, हिसार।

अध्याय संरचनाः

हम इस अध्याय में समाज, समुदाय, समूह, व संस्था के बारे में चर्चा करेंगे। इस अध्याय की संरचना इस प्रकार रहेगीः

1.0 उद्देश्य

3.1 परिचय

3.2 विषय वस्तु की प्रस्तुति

3.2.1 समाज – एक परिचय

3.2.2 समुदाय– एक परिचय

3.2.3 समूह– एक परिचय

3.2.4 संस्था– एक परिचय

3.3 सारांश

3.4 सूचक शब्द

3.5 स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

3.6 संदर्भित पुस्तकें

3.0 उद्देश्यः

इस अध्याय के उद्देश्य इस प्रकार हैंः

- स्माज के बारे में चर्चा
- समुदाय के बारे में चर्चा
- समूह के बारे में चर्चा
- संस्था के बारे में चर्चा

3.1 परिचय :

समाजशास्त्र का इतिहास बहुत पुराना है। सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में इस समाज विज्ञान में कई सिद्धांत बने हैं और इन नये सिद्धांतों का मतलब हुआ नयी अवधारणाएँ। कुछ अवधारणाएँ तो ऐसी है जो हाल में पिछले एक दो दशकों में विकसित हुई है। नवीन संरचनावाद, नवीन मार्क्सवाद, सामाजिक दबाव, वृहद समाजशास्त्र शोषण, आदि अवधारणाएँ समाजशास्त्रीय विश्लेषण से नयी है।

सच में देखा जाये तो अवधारणाएँ अपने औपचारिक रूप में निश्चित और स्पष्ट होती है। समाजशास्त्र की एक निश्चित पारिभाषित पदावली है। इससे विद्यार्थी का पूरा सम्पर्क होना चाहिये। मैकाईवर और पेज लिखते हैं :

यहाँ हम समाजशास्त्र की कतिपय अवधारणााओं – समाज, समुदाय, समूह, व संस्था – की व्याख्या करेंगे, जो सामान्यतया समाजशास्त्र में पायी जाती है। कुछ नवीन अवधारणाओं का भी उल्लेख हम करेंगे। नवीन अवधारणाओं की व्याख्या हमें यह बताएगी कि आज समाजशास्त्र की गति में कितनी अधिक तेजी है।

हम इस अध्याय में समाज, समुदाय, समूह, व संस्था के बारे में चर्चा करेंगे।

3.2 विषय वस्तु की प्रस्तुतिः

इस अध्याय में विषय वस्तु का प्रस्तुतिकरण इस प्रकार रहेगाः

- समाज – एक परिचय
- समुदाय– एक परिचय
- समूह – एक परिचय
- संस्था– एक परिचय

3.2.1 समाज– एक परिचय ः

यदि भारतीय संदर्भ में यह देखने का प्रयास करें कि यहाँ समाज की उत्पति कब हुई तो ज्ञात होगा कि सबसे पहले पुरूष मनु हिमालय के हिम शिखरों पर बैठे हुए सृष्टि के विनाश को देख रहे थे। उनके ऊपर और नीचे पानी था। अभी समाज था तो सही, लेकिन मनु को इसका कोई ज्ञान नहीं था। विनाशलीला के थमने पर मनु ने जब शांति की सांल ली तब उन्हें श्रद्धा मिली। मनु और श्रद्धा ने मिलकर भारत को जन्म दिया और इस तरह समाज का सिलसिला चल पड़ा। बाइबिल में भी कथा है कि आदम और हौआ ने समाज की संरचना की। यह कहना अनुचित होगा कि जब से पृथ्वी पर मनुष्य आया है, समाज की परम्परा भी तब से ही है।

समाजशास्त्र की भाषा में समाज की अवधारणा बहुत अधिक प्रयोग में आती है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। इस बात को दार्शनिक अरस्तु के नाम पर बार–बार दोहराया भी जाता है। मनुष्य सामाजिक संगठनों, संस्थाओं, समितियों, वर्गों, जातियों और परिवारों को बनाता है और इन्हीं के माध्यम से अपनी सामाजिकता की अभिव्यक्ति भी करता है।

जन्म होने के बाद बच्चा अपने आप को समाज के सुपुर्द कर देता है। समाज उसे बड़ा करता है। समाज उसे संस्कार और परम्पराएँ देता है। धीरे–धीरे व्यक्ति समाज के मानक और मूल्यों को अपना समझने लगता है और इस तरह समाज की सदस्यता यानी उसकी निरन्तरता बराबर बनी रहती है।

मानव समाज का निर्माण सामाजिक संगठन, जनसंख्या, निश्चित स्थान और कुछ उद्देश्यों को लेकर होता है। समाज में व्यक्तियों का जीवन श्रम विभाजन के आधार पर संगठित होता है। समाज में व्यक्तियों के एक जैसे उद्देश्य होते हैं और वे जीवन के विभिन्न पहलुओं में एक दूसरे पर निर्भर रहते हैं। उदाहरण के लिए, हम प्रायः भारतीय समाज की चर्चा करते हैं। भारतीय समाज इसलिये कि भारत की भौगोलिक सीमा में रहने वाले लोगों का एक विशेष प्रकार का सामाजिक संगठन होता है। वे एक खास तरह का रहन–सहन अपनाते है और इसलिए वे सब एक समाज के नाम से सम्बोधित किये जाते हैं। समाज छोटा भी हो सकता है और बड़ा भी। हम प्रायः ग्रामीण समाज और शहरी समाज की चर्चा करते हैं। महिला समाज, बाल समाज और मानव समाज ये सब साधारणतया हमारे प्रयोग में आने वाले पद है।

समाज की परिभाषा :

गिन्सबर्ग ने समाज की व्याख्या करते हुए लिखा है कि केवल कुछ व्यक्तियों का किसी बाहरी आपत्ति से भयभीत होकर साथ होना मात्र ही समाज नहीं है। बाढ़ से पीड़ित होकर जब गांव का गांव भाग खड़ा होता है तो यह भी समाज नहीं है। समाज के लिये जहाँ व्यक्ति एकत्रित होते हैं, वहाँ उनमें पारस्परिक सम्बन्ध अनिवार्य रूप से होने चाहिए। समाज की व्याख्या करते हुए गिन्सबर्ग लिखते हैं :

ऐसे व्यक्तियों के समुदाय को समाज कहा जाता है, जो कतिपय सम्बन्धों या बर्ताव की विधियों द्वारा परस्पर एकीभूत हों। जो व्यक्ति इन सम्बन्धों द्वारा सम्बद्ध नहीं होते या जिनके बर्ताव भिन्न होते हैं, वे समाज से पृथक होते हैं।

डब्ल्यू0 ग्रीन ने समाज की व्याख्या और भी विस्तृत रूप से की है :

समाज एक बहुत बड़ा समूह है और व्यक्ति उसके सदस्य है। समाज के अन्तर्गत जनसंख्या, संगठन, समय, स्थान और विभिन्न हेतु होते हैं। जनसंख्या के सभी आयु और लिंगों के व्यक्ति होते हैं। पुरुष, स्त्री, बच्चे और बूढ़े सभी समाज के सदस्य है। इन सदस्यों के विभिन्न संगठन–परिवार, वर्ग, जाति आदि होते हैं। समाज का एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र होता है और सदस्यों के कुछ सामाजिक स्वार्थ और उद्देश्य होते हैं। ये सब समाज के लक्षण है।

ग्रीन ने समाज की अवधारणा की जो व्याख्या की है उसके अनुसार समाज एक बहुत बड़ा समूह है जिसका कोई भी व्यक्ति सदस्य हो सकता है। समाज जनसंख्या, संगठन, समय, स्थान और स्वार्थो से बना होता है।

टेलकट पारसन्स जो उच्च कोटि के सिद्धांतवेता है, कहते हैं कि समाज उन मानव सम्बन्धों की पूर्ण जटिलता के रूप में पारिभाषित किया जा सकता है जो क्रियाओं के करने से उत्पन्न हुए हैं और वह कार्य साधन और साध्य के सम्बन्ध के रूप में किये गये हों, चाहे वह यर्थाथ हो और चिह्न मात्र।

समाज की विशेषताएँ :

समाजशास्त्रियों ने समाज की परिभाषा कई अर्थों में दी है। समाज के साथ जुड़ी हुई कतिपय विशेषताएँ हैं और ये विशेषताएँ ही समाज के अर्थ को स्पष्ट करती है। हालके समाजशास्त्रियों में जॉनसन ने समाजशास्त्र के लक्षणों को वृहत् अर्थों में रखा है। यहाँ हम समाज की कतिपय विशेषताओं का उल्लेख करेंगे जिन्हें सामान्यतया सभी समाजशास्त्री स्वीकार करते हैं। ये विशेषताएँ निम्न प्रकार से हैं :

1. **एक से अधिक सदस्य :**

कोई भी समाज हो, उसके लिये एक से अधिक सदस्यों की आवश्यकता होती है। अकेला व्यक्ति जीवनयापन नहीं कर सकता है और यदि वह किसी तरह जीवन निर्वाह कर भी ले, तब भी वह समाज नहीं कहा जा सकता। समाज के लिये यह अनिवार्य है कि उसमें दो या अधिक व्यक्ति हों। साधु, सन्यासी, योगी आदि जो कन्दराओं और जंगलों में निवास करते हैं, तपस्या या साधना का जीवन बिताते है, समाज नही कहे जा सकते।

2. **वृहद संस्कृति :**

समाज में अगणित समूह होते हैं। इन समूहों को एथनिक समूह कहते हैं इन एथनिक समूहों की अपनी एक संस्कृति होती है, एक सामान्य भाषा होती है, खान–पान होता है, जीवन पद्धति होती है, और तिथि त्यौहार होते हैं। इस तरह की बहुत उप–संस्कृतियाँ जब तक देश के क्षेत्र में मिल जाती है तब वे एक वृहद संस्कृति का निर्माण करती हैं। दूसरें शब्दों में, समाज की संस्कृति अपने आकार–प्रकार में वृहद होती है जिसमें अगणित उप–संस्कृतियाँ होती है। उदाहरण के लिये जब हम भारतीय संस्कृति की चर्चा करते हैं तो इससे हमारा तात्पर्य यह है कि यह संस्कृति वृहद है जिसमें कई संस्कृतियाँ पाई जाती है। हमारे देश में अनेकानेक उप–संस्कृतियां है। एक ओर इस देश में गुजराती, पंजाबी यानी

भांगड़ा और डांडिया संस्कृति है वही बंगला संस्कृति भी है। उप–संस्कृतियों में विभिन्नता होते हुए भी कुछ ऐसे मूलभूत तत्व है जो इन संस्कृतियों को जोड़कर भारतीय संस्कृति बनाते हैं। हमारे संविधान ने भी इन उप–संस्कृतियों के विकास को पूरी स्वतंत्रता दी है। कोई भी एक संस्कृति दूसरी संस्कृति के क्षेत्र में दखल नहीं देती। संविधान जहाँ प्रजातंत्र, समानता, सामाजिक न्याय आदि को राष्ट्रीय मुहावरा बनाकर चलता है, वहीं वह विभिन्न उप–संस्कृतियों के विकास के भी पूरे अवसर देता है। ये सब तत्व किसी भी समाज की वृहद संस्कृति को बनाते हैं। जब हम अमरीकी और यूरोपीय समाजों की बात करते हैं जो इन समाजों में भी कई उप–संस्कृतियों से बनी हुई वृहद संस्कृति होती है। अमरीका में कई प्रजातियाँ – काकेशियन, मंगोलियन, नीग्रो, इत्यादि। इस समाज में कई राष्ट्रों के लोग निवास करते हैं – एशिया, यूरोप, आस्ट्रेलिया इत्यादि। यूरोपीय समाज की संस्कृति भी इसी भांति वृहद है।

3. क्षेत्रीयता :

जॉनसन का आग्रह है कि किसी भी संस्कृति का कोई न कोई उद्‌गम का क्षेत्र अवश्य होता है। प्रत्येक देश की अन्तर्राष्ट्रीय सीमाएँ होती है। इसी को देश की क्षेत्रीयता कहते हैं। इस क्षेत्रीयता की भूमि से ही संस्कृति का जुड़ाव होता है। यदि हम उत्तराखण्ड की संस्कृति की बात करते हैं तो इसका मतलब हुआ कि इस संस्कृति का जुड़ाव हिमाचल या देव भूमि के साथ है। मराठी संस्कृति या इस अर्थ में मलयालम संस्कृति भी अपने देश के भू–भाग से जुड़ी होती है।

यह संभव है कि किसी निश्चित क्षेत्र में पायी जाने वाली संस्कृति अपने सदस्यों के माध्यम से दूसरे में पहुंच जाए, ऐसी अवस्था में जिस क्षेत्र का उद्‌गम हुआ है उसी क्षेत्र के नाम से संस्कृति की पहचान होगी। उदाहरण के लिए इंग्लैण्ड या न्यूयार्क में रहने वाला भारतीय अपने आपको भारतीय संस्कृति या भारतीय समाज का अंग कह सकता है, जबकि

तकनीकी दृष्टि से अमेरीका में रहकर वह भारतीय क्षेत्र में नहीं रहता। महत्वपूर्ण बात यह है कि जिस क्षेत्र में संस्कृति का उद्गम हुआ है, उसी क्षेत्र के समाज के साथ में उसे पहचाना हुआ मानता है। उत्तरप्रदेश में रहने वाला एक गुजराती अपने आपको गुजराती संस्कृति के साथ जुड़ा हुआ मानता है। उसकी भाषा, खान–पान, तिथि, त्यौहार, उत्तरप्रदेश में रहकर भी गुजराती संस्कृति के होते हैं

4. सामाजिक संबंधों का दायरा :

समाज के सदस्यों के सम्बन्ध विभिन्न प्रकार के होते हैं। समाज जितना जटिल होगा, सम्बन्ध भी उतने ही भिन्न और जटिल होंगे। सम्बन्ध कई तरह के होते हैं : पति–पत्नी, मालिक मजदूर, व्यापारी–उपभोक्ता आदि। इन विभिन्न सम्बन्धों में कुछ सम्बन्ध संघर्षात्मक होते हैं और कुछ सहयोगात्मक। समाज का चेहरा हमेशा प्रेम, सहयोग और ममता से दैदीप्यमान नहीं होता, इसके चेहरे पर एक पहलू बदसूरत भी होता है। समाज में संघर्ष, झगड़े–टंटे, मार–पीट और दंगे भी होते हैं। जिस भांति समाज का उजला पक्ष समाज का लक्षण है, वैसे ही बदसूरत पक्ष भी समाज का ही अंग है। अतः समाज जहाँ मतैक्य का प्रतीक है, वही वह संघर्ष का स्वरूप भी है।

5. श्रम विभाजन :

समाज की गतिविधियाँ कभी भी समान नहीं होती। यह इसलिये कि समाज की आवश्यकताएँ भी विविध होती है। कुछ लोग खेतों में काम करते हैं और बहुत थोड़े लोग उद्योगों में जुटे होते हैं। सच्चाई यह है कि समाज में शक्ति होती है। इस शक्ति का बंटवारा कभी भी समान रूप से नहीं हो सकता। सभी व्यक्ति तो राष्ट्रपति नहीं बन सकते और सभी व्यक्ति क्रिकेट टीम के कप्तान नहीं बन सकते। शक्ति प्रायः न्यून मात्रा में होती है और इसके पाने के दावेदार बहुत अधिक होते हैं। इसी कारण समाज कहीं का भी, उसमें शक्ति बंटवारे की कोई न कोई व्यवस्था अवश्य होती है। शक्ति के बंटवारे का यह

सिद्धांत ही समाज में गैर–बराबरी पैदा करता है। यह अवश्य है कि किसी समाज में गैर–बराबरी थोड़ी होती है और किसी में अधिक। हमारे देश में गरीबी का जो स्वरूप है वह यूरोप या अमेरिका की गरीबी की तुलना में बहुत अधिक वीभत्स है। जब कभी समाज की व्याख्या की जाती है जो इसमें श्रम विभाजन की व्यवस्था एक अनिवार्य बिन्दु होता है। कोई भी समाज, जो विकास के किसी भी स्तर पर हो, उसमें श्रम विभाजन का होना अनिवार्य है।

6. काम प्रजनन :

समाज की वृद्धि और विकास के लिये बराबर नये सदस्यों की भर्ती की आवश्यकता रहती है। ऐसा होना समाज की निरन्तरता के लिये आवश्यक है। यदि समाज की सदस्यता में निरन्तरता नहीं रहती तो लगता है कि समाज का अस्तित्व खतरे में है। सदस्यों की यह भर्ती कई तरीकों से हो सकती है – साम्राज्य विस्तार, उपनिवेश और आप्रवासन। पर सामान्यतया समाज की सदस्यतया की सततता को बनाये रखने का तरीका काम प्रजनन है। इसका मतलब है, समाज के सदस्यों की सन्तान समाज के भावी उत्तरदायित्व को निभाती है।

समाज सतत् परिवर्तन होता है :

समाज व्यक्तियों का एक संगठन है। जिसमें सामाजिक सम्बन्ध होते है पर व्यक्त्यिों के ये सामाजिक सम्बन्ध स्थिर नहीं है। सम्बन्धों की करवट बराबर बनदली रहती है। परिवार में पति–पत्नी के सम्बन्ध है। कुछ वर्षो पहले पति–पत्नी के जो सम्बन्धों भारतीय समाज में थे, वे आज नहीं है पहले पत्नी को परमेश्वर मानती थी, आज केवल एक जीवन साथी। कुछ इसी सास–बहू, पिता–पुत्र और गुरू शिष्य के सम्बन्धों में भी परिवर्तन आया है।

3.2.2 समुदाय– एक परिचय :

समुदाय की अवधारणा समाशास्त्र की एक लोकप्रिय अवधारणा है। सैद्धान्तिक दृष्टि से सबसे पहले इस अवधारणा का प्रयोग इमाइल दुर्खीम ने किया था। उन्होंने समाज को दो भागों में विभाजिहत किया। एक समाज जिसे वे यांत्रिक समाज कहते हैं वस्तुतः ग्रामीण समुदाय है। इस समुदाय में न्यूनतम श्रम विभाजन होता है, कानून का स्वरूप दमनात्मक होता है और लोगों के विश्वास और विचार समान होते हैं। इस समुदाय में लोग यंत्रवत काम रकते है और इसमें श्रम विभाजन अधिक विस्तृत नहीं होता। दूसरी ओर नगरीय समुदाय है। दुर्खीम इसे सावयवी समाज का नाम देते है। इस भांति दुर्खीम के अनुसार दो प्रकार के समुदाय पाये जाते हैं – (1) यांत्रिक समाज, और (2) सावयवी समुदाय। समाजशास्त्र में गांव और शहर के लिए समुदाय पद का प्रयोग ही होता है। रोबर्ट रेडफील्ड ने ग्रामीण समुदाय की अवधारणा पर विस्तृत रूप से लिखा है अमरीका और यूरोप में जहाँ कहाँ विशेषण की तरह वे ग्रामीण या शहरी समुदाय लगा देते है। हमारे देश में ई0 1952 में जब सामुदायिक योजनाएँ चली, तब ग्रामीण विकास का नाम सामुदायिक विकास यानी कम्युनिटी डवलपमेन्ट दिया गया।

मनुष्य किसी न किसी समुदाय का सदस्य अवश्य होता है किसी भी एक समुदाय में सम्पूर्ण जीवन बिताया जा सकता है। समुदाय में लोग विभिन्न गतिविधियों को करते है। कोई कारखाने में काम करता है, कोई फेरी लगाता है और कोई दफ्तरों में काम करता है। समय बिताने या मनोरंजन के लिए कोई सिनेमा या टेलीविजन देखता है, तो कोई क्लब जाता है। तात्पर्य यह है कि विभिन्न लोग शहरों या गांवों में विभिन्न प्रकार से अपना सम्पूर्ण जीवन बिता लेते है। इस तरह का संपूर्ण जीवन किसी बैंक या क्लब में बिताना संभव नहीं है। क्लब तो केवल एक रुचि मात्र को पूरा करने का साधन है। बैंक का प्रयोजन केवल विनिमय का है। अतः क्लब और बैंक चाहे और कुछ भी हो, समुदाय नहीं

है। दूसरी ओर, जनजाति एक समुदाय है। समुदाय पड़ोस या गांव जैसा छोटा भी होता है और भारतीय समुदाय जैसा बड़ा भी।

गाँव, शहर, जाति, जनजाति आदि समुदाय है। किसी भी समुदाय की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि एक व्यक्ति के सम्पूर्ण सामाजिक संबंध पर्याप्त रूप से समुदाय में पाये जाते हैं। गांव में रहने वाला व्यक्ति आर्थिक दृष्टि से खेतीबाड़ी कर लेता है, गाँव के मन्दिर में पूजा कर लेता है, अपने बच्चों को गांव के स्कूल में पढ़ने भेज देता है, गांव की व्यवस्था ग्राम पंचायत से पूरी कर लेता है, गाँव की सहकारी समिति से अपनी आर्थिक समस्याओं को हल कर लेता है। इसतरह अपना संपूर्ण जीवन वह गाँव में बिता देता है।

यह ठीक है कि समुदाय प्रायः आत्मनिर्भर होता है। परन्तु आज के बढ़ते हुए आवागमन और संचार के युग में किसी भी समुदाय का पूर्ण रूप से आत्मनिर्भर होना संभव नहीं है। आज दूर–दूर जंगलों और पहाड़ियों में रहने वाली आदिम जातियाँ भी आत्म निर्भर नहीं है। शक्कर, चाय, साबुन, मिट्टी का तेल, नमक, बीड़ी, दियासलाई आदि वस्तुओं की पूर्ति के लिए वे भी शहरों पर निर्भर है। शहर भी दूसरी ओर जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए देश और विदेश पर निर्भर है। पारस्परिक निर्भरता आज के युग की विशेषता है। इतना होने पर भी एक निश्चित समुदाय के लोग दूसरे समुदाय से पृथक दिखाई देते है।

समुदाय की परिभाषा :

प्रारंभ में समुदाय से मतलब एक ऐसे भू–भाग से था जिसमें लोग पारस्परिक आर्थिक क्रियाएँ करते थे और राजनीतिक दृष्टि से उनके पास स्वायत शासन की एक इकाई थी। इस दृष्टि से समुदाय का अर्थ एक संरचना से था जिसमें लोग या परिवार एक निश्चित

भौगोलिक क्षेत्र में रहते थे। समुदाय के प्रति यह दृष्टिकोण संरचनात्मक था। गाँव, कस्बे और शहर इस विचारधारा के अनुसार समुदाय है।

लिंडमेन ने समुदाय के संरचनात्मक और प्रकार्यात्मक दोनों पहलुओं पर जोर दिया है, वे लिखते हैं :

यदि हम समुदाय के स्पष्ट तत्वों की परिभाषा दें तो यह एक जागरूकता से बनाया गया संघ्ज्ञ है जो एक निश्चित क्षेत्र या बस्ती में रहता हो। इसके पास सीमित राजनीतिक अधिकार होता है और यह सामाजिक संस्थाओं जैसे स्कूल, मन्दिर, गिरिजाघर आदि पर देखरेख रखता है।

समुदाय के प्रकार्यात्मक पहलुओं का उल्लेख करते हुए लिडंमेन आगे लिखते हैं :

यदि हम समुदाय के अस्पष्ट तत्वों की परिभाषा दें तो यह सामाजिक अन्तःक्रियाओं की एक प्रक्रिया है जो कि अधिक गहरी या विस्तृत धारणाओं को पैदा करती है, जिसमें पारस्परिक निर्भरता (सहकारिता), सहयोग और एकीकरण होते हैं।

उपरोक्त परिभाषाओं से समुदाय के सम्बन्ध में दो तथ्य बहुत स्पष्ट है :

(1) समुदाय व्यक्तियों का एक संगठन है जो कि एक निश्चित भू–भाग में स्थित होना है।

(2) अस्ष्ट रूप से समुदाय सामाजिक अन्तःक्रियाओं सहयोग, संघर्ष, सम्पर्क आदि की एक प्रक्रिया है। यह समुदाय का क्रियात्मक रूप है।

समुदाय की व्याख्या लिंडमेन के अतिरिक्त कई अन्य समाजशास्त्रियों ने भी की है। उदाहरण के लिए, ऑगबर्न एवं निमकॉफ ने समुदाय को एक 'सीमित क्षेत्र में सामाजिक जीवन के सम्पूर्ण संगठन' से पारिभाषित किया है। मेन्जर ने समुदाय की परिभाषा में भू–भाग पर अधिक जोर दिया है। ''वह समाज जो किसी निश्चित भौगोलिक स्थान पर रहता है, समुदाय कहा जा सकता है। इस तरह समुदाय में जहां लोग एक निश्चित

भू–भाग में रहते हैं, वहीं उनमें कुछ निश्चित सामाजिक पक्रियाएँ और संस्थाएँ भी होती है। समुदाय जहाँ एक संरचना है, वही एक प्रक्रिया भी है।''

समुदाय के आधार तत्व :

ऊपर की परिभाषाओं की दृष्टि में रखकर हम समुदाय के आधारभूत तत्वों का उल्लेख करेंगे। किसी भी समुदाय में निम्नलिखित आधारभूत लक्षण पाये जाते हैं :

(1) **समुदाय में स्थानीयता होती है :** समुदाय के लोग अपनी जमीन से जुड़े होते है। लोगों का एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र होता है। इस क्षेत्र के अन्दर रहने वाले लोगों का सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक जीवन एक सूत्र में बंधा हुआ होता है। प्रत्येक गांव की चाहे वह कितना ही छोटा क्यों न हो, एक सीमा होती है। हमारे देश की भी भौगोलिक सीमाएँ है, इन सीमाओं में रहने वाले लोग ही भारतीय समुदाय कहे जाते है। एक ही भौगोलिक पर्यावरण में रहने के कारण लोगों का जीवन भी एक जैसा ही बन जाता है। दक्षिण भारत में रहने वाले ढीले–ढाले कपड़े पहनते हैं क्योंकि यहाँ गर्मी अधिक होती है। कश्मीर और लेह के लोग ठंडी जलवायु के कारण गर्म कपड़े अधिक पहनते है। सर्दी के मौसम में घरों में सिगड़ियाँ रखते हैं। इस भाँति समुदाय का बहुत बड़ा और प्रधान गुण भौगोलिक स्थान है। समुदाय की सदस्यता के लिए लोगों का समुदाय में रहना आवश्यक है।

(2) **सामुदायिक या 'हम की भावना' :** समुदाय की दूसरी विशेषता उसके सदस्यों में हम की भावना का होना है। एक भौगोलिक क्षेत्र में रहने से समुदाय के लोग एक जैसा जीवन यापन करते हैं। छोटे समुदाय में एक व्यक्ति का सुख–दुख सबका सुख–दुख हो जाता है, एकता की भावना जितनी सुदृढ़ होगी उतनी ही समुदाय की सामाजिक सुदृढ़ता होगी। एक ही सामाजिक, आर्थिक जीवन बिताने से लोग भावनात्मक रूप से एक कड़ी में

बंध जाते हैं। गांवों में देखें तो ज्ञात होगा कि वर्षा होने के बाद पूरा का पूरा गाँव एक ही दिन बुवाई, कटाई करता है, और एक साथ ही होली और दिवाली मनाता है। यह गाँव हमारा है – यह सामुदायिक भावना है।

समुदाय में हम की भावना सुदृढ़ होती है। प्रत्येक सदस्य में जीवन की विभिन्नता होते हुए भी हम इस समुदाय के है, यह भावना सुदृढ़ होती है। जो लोग समुदाय के सदस्य होते हुए भी समुदाय की भावना को महत्व नहीं देते या ठेस पहुँचाते है, समुदाय उनहें हेय दृष्टि से देखता है। सामुदायिक भावना का महत्वपूर्ण तत्व हम की भावना है। यह भावना मोहल्ले वालों, गाँव वाले, और राष्ट्र के लोगों में देखी जा सकती है। हम भावना का मूल कारण एक ही स्थान पर रहने वाले लोगों के हितों की समानता है।

सामुदायिक भावना में दूसरा महत्वपूर्ण तत्व योगदान की भावना है। समुदाय में प्रत्येक व्यक्ति की अपनी एक स्थिति होती है। इस स्थिति में जुड़े कार्य होते है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी स्थिति के अनुसार कार्यों को करता है।

सामुदायिक भावना का तीसरा तत्व आश्रितता की भावना है। इस भावना के आधार पर प्रत्येक व्यक्ति अपने को समाज पर आश्रित समझता है। इसी भावना के आधार पर वह सामान्यता समाज का विरोध नहीं करता।

(3) **सामान्य जीवन** : समुदाय के सदस्य व्यक्तिगत रूप से अपने जीवन का प्रतिमान निश्चित करते हैं, पर सभी सदस्यों का जीवन स्तर प्रायः एक समान होता है। एक ही भौगोलिक स्थान में रहने के कारण भी उनका आर्थिक एवं सामाजिक जीवन एक जैसा बन जाता है। गांव सबके धन्धों को संगठित तो नहीं करता, पर प्रायः पर्यावरण के कारण लोग खेती–बाड़ी करते हैं या इससे सम्बन्धित कोई अन्य धंधा अपनाते है। शहरों में लोग व्यापार करते हैं या दफ्तरों, कारखानों या औद्योगिक क्षेत्रों में काम करते हैं। इस प्रकार साधारण जीवन की दृष्टि से समुदाय के जीवन में बड़ी समानता होती है।

समाजशास्त्र में समुदाय की अवधारणा का प्रयोग सामान्य है। शहरी और ग्रामीण जीवन का अध्ययन, इन दो समुदायों का अध्ययन होता है। देश या राष्ट्र भी समुदाय के ही दृष्टान्त है और समाजशास्त्र में इनकी व्याख्या समुदाय की तरह की जाती है। जैसा कि हमने ऊपर लिखा है कि समुदाय की अवधारणा का प्रयोग दुर्खीम, टॉनीज और सोरोकीन ने भी पर्याप्त रूप से किया है। हमारे यहाँ तो समुदाय की अवधारणा कए प्रकार से गाँव और शहर की पर्यायवाची है।

(4) **विशिष्ट नाम :** प्रत्येक समुदाय का कोई न कोई नाम अवश्य होता है, उसका एक निश्चित स्वरूप होता है, यह मूर्त होता है, इसे हम देख सकते हैं। मूर्त स्वरूप होने के कारण इसका नाम भी होता है। गाँव व नगर में रहने वाले समूह का नाम गाँव या नगर पर पड़ सकता है। इन समुदायों में रहने वाले सदस्य भी अपने को व्यापक समुदाय के साथ जोड़ने में प्रसन्नता अनुभव करते हैं। मैं एक भारतीय हूँ, लखनवी हूँ, या जयपुरी हूँ आदि अभिव्यक्तियाँ समुदाय के विशिष्ट नाम को घोषित करती है।

(5) **स्थायित्व :** मनुष्य की समितियाँ अर्थात् सहकारी समिति या मजदूर, संगठन, अस्थायी होते हैं, अपेक्षित रूप से समुदाय स्थायी होते हैं। दिल्ली, आगरा और मुम्बई जैसे शहरों के समुदाय ऐतिहासिक है, इन्होंने साम्राज्य को उठाते हुए और गिरते हुए देखा है। इतिहास ने कितनी ही करवटें ली है, कितने ही उठक-पटक हुए है, पर ये समुदाय आज भी अपने अस्तित्व की घोषणा करते है। इसी भांति देश के लाखों गाँवों के समुदाय स्थायी है। क्रान्तियाँ आई, राज्य बदले, उतार और चढ़ाव आये, पर ये समुदाय विस्मृति के गर्त में नहीं डूबे, आज भी अपना स्थायित्व बनाए हुए है। अपेक्षाकृत स्थायित्व, समुदाय की विशेषता है।

3.2.3 समूह- एक परिचय :

सामाजिक समूह की अवधारणा का अंतर हमें इससे मिलती–जुलती दो और धारणाओं से करना चाहिए। ये धारणाएँ है : (1) समुच्चय, और (2) सामाजिक कोटियाँ। समुच्चय और सामाजिक कोटियाँ निश्चित रूप से व्यक्तियों का जोड़ है।

सामाजिक समूह की परिभाषा :

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि सामाजिक समूह न तो अनेक व्यक्तियों का समुच्चय है और न ही यह एक सामाजिक कोटि है। विभिन्न विद्वानों ने समूह को पारिभाषित किया है। सभी इस तथ्य को स्वीकार करते है कि समूह में सम्मिलित लोगों के बीच में पारस्परिक सम्पर्क होता है और यह स्मपर्क हमेशा बना रहता है, एक–दो दिन तक नहीं। वास्तविकता यह है कि समूह के सदस्यों की अन्तःक्रियाएँ नियमित रूप से होती रहती है। नियमित रूप से होने वाली अन्तःक्रिया ही व्यक्तियों को समूह का सदस्य बनाती है। एन्थोनी गिडेन्स ने सामाजिक समूह की परिभाषा इस भाँति की है :

सामाजिक समूह केवल व्यक्तियों का एक योग है जो नियमित रूप से एक दूसरे के साथ अन्तःक्रिया करते है। इस तरह की नियमित अन्तःक्रियाएँ समूह के सदस्यों को एक निश्चित इकाई का रूप देती है। इन सदस्यों की पूर्ण रूप से सामाजिक पहचान अपने समूह से ही होती है। आकार की दृष्टि से समूह में विभिन्नत आती है। समूह का आकार बहुत निकट सम्बन्धों जैसे परिवार से लेकर विशाल समष्टि जैसे रोटेरी क्लब तक होता है।

ऐमोरी बोगार्डस ने पाँचवे दशक के प्रारंम्भ में समाजशास्त्र की एक पाठ्यपुस्तक लिखी थी। उनका कहना है कि बहुत थोड़े में या सार रूप में समाजशास्त्र और कुछ न होकर समूह का अध्ययन मात्र है। उन्होंने समूह की व्याख्या वृहत् रूप में की है। उन्होंने समूह का सम्बन्ध संस्कृति, परिवार, समुदाय, व्यवसाय, खेलकूद, शिक्षा, धर्म, प्रजाति और संसार तक के साथ जोड़ा है। उनके अनुसार, ये सब समाज के अंग अपने आप में समूह

है। उनकी दृष्टि में विभिन्न प्रजातियाँ इसी भाँति समूह और यहाँ तक रेडियो और टी.वी. देखने–सुनने वाले लोग भी समूह है। प्रारंभिक अर्थ में समूह व्यक्तियों की एक इकाई है जिनमें पारस्परिक सम्बन्ध होते हैं। उदाहरण के लिये, किसी जंगल में वृक्षों का जो झुरमुट है, वह समूह है, इसी तरह गली के नुक्कड़ पर बसे हुए मकान समूह है या हवाई अड्डे पर पड़े हुए हवाई जहाज समूह बना देते है। ये सब समूह बेजान है, एक प्रकार के समुच्चय है। समूह सामाजिक समूह तब बनते है जब उनमें अन्तःक्रिया प्रारम्भ होती है। समूह की मूल आवश्यकता अन्तःक्रिया है। बोगार्डस कहते हैं :

एक सामाजिक समूह में कई व्यक्ति होते हैं – दो या अधिक। इन व्यक्तियों का ध्यान कुछ सामान्य लक्ष्णों की ओर होता है। ये लक्ष्य एक दूसरे को प्रेरित करते हैं। इन सदस्यों में एक सामान्य निष्ठा होती है और ये सदस्य एक जैसी गतिविधियों में अपनी भागीदारी करते है।

बोगार्डस ने समूहों के कई प्रकार बताये हैं। इन प्रकारों का आधार समूह द्वारा की जाने वाली गतिविधियाँ हैं। समूहों की लम्बी तालिका में वे परिवार, समुदाय, व्यवसाय, शिक्षा, राष्ट्र आदि को सम्मिलित करते हैं। बोगार्डस अपनी पुस्तक में बार–बार आग्रहपूर्वक कहते हैं कि समूह कभी भी स्थ्रित नहीं होता, उसमें गतिशीलता होती है और इससे आगे इसकी गतिविधियों में परिवर्तन आता है और इसका स्वरूप भी बदलता रहता है। कभी–कभी लगता है कि जैसे समूह स्थिर हो गया है, चलते हुए उसके पाँव थम गये से लगते है और कभी ऐसा भी लगता है कि जैसे समूह सरपट गति से दौड़ता जा रहा है। यह सब भ्रम जाल है। वास्तविकता यह है कि समूह किसी तालाब के पानी की तरह बंधा हुआ नहीं रहता। उसमें गतिशीलता बराबर रहती है। कभी यह गतिशीलता बहुत धीमी होती है, कभी मध्यम और कभी–कभार बहुत तेज।

आगबर्न और निमकॉफ पुरानी पीढ़ी के पाठ्यपुस्तक लेखक हैं। उन्होंने समूह की परिभाषा बहुत ही सामान्य रूप में रखी हैं :

जब कभी भी दो या अधिक व्यक्ति एकत्र होते हैं, और एक दूसरे को प्रभावित करते हैं तो वे एक सामाजिक समूह का निर्माण करते हैं।

रोबर्ट मर्टन ने सामाजिक समूह की अवधारणा को संशोधित रूप में रखा है। वे बोगार्डस द्वारा की गयी समूह की परिभाषा से एकदम असहमत है। उनका तर्क है कि सामाजिक समूह की किसी भी परिभाषा में अनिवार्य तत्व अन्तःक्रिया है। समूह के सदस्य कितने ही क्यों न हों जब तक उनमें अन्तःक्रिया नहीं होती, वे समूह नहीं बनाते। बोगार्डस प्रजाति को एक समूह मानते हैं। कॉकेशियन प्रजाति की जनसंख्या असीमित है और रुचिकर बात यह है कि इस नस्ल के लोग न तो दूसरे को जानते है और न ही उनमें कोई नियमित अन्तःक्रिया है। ऐसी अवस्था में मर्टन प्रजाति या इसी तरह राष्ट्र को एक समूह नहीं मानते। वास्तव में मर्टन ने सामाजिक समूह की परिभाषा अपने संदर्भ समूह सिद्धांत की पृष्ठभूमि में दी है। उनका कहना है कि समूह एकत्रीकरण नहीं है। प्रजाति और राष्ट्र तो व्यक्तियों के एकत्रीकरण है। इन व्यक्तियों में पारस्परिक अन्तःक्रियाएँ नहीं होती। अतः सामाजिक समूह मर्टन के अनुसार एकत्रीकरण तो है लेकिन इसके अतिरिक्त सदस्यों में अनतःक्रिया होती है, ''हम एक ही समूह के सदस्य है,'' हम सुदृढ़ता की भावना भी रखते हैं, आदि भी इसकी आवश्यकताएँ है। इन सदस्यों में मानदण्ड और मूल्य भी एक समान होते हैं।

वास्तविकता यह है कि हाल में समूह की व्याख्या जिस तरह हुई है इससे लगता है कि यह अवधारणा अपनी टूटन अवस्था पर आ गयी है। पिछले तीन-चार दशकों में समाजशास्त्रीय अवधारणाओं में बड़ा फेरबदल आया है। जब अवधारणाएँ संशोधित होती है या कभी-कभार आनुभाविकता से सत्यापित नहीं होती तो वे अतीत के गर्त में खो जाती

है। नयी अवधारणाएँ नये सिद्धान्तों को जन्म देती हैं। सामाजिक समूह की अवधारणा के साथ भी कुछ ऐसा ही गुजरा है।

मर्टन ने समूह की जो नयी संशोधित व्याख्या की है, उसके अनुसार (1) समूह में दो या उससे अधिक सदस्य होते है; (2) समूह में अन्तःक्रियाओं का होना आवश्यक है और ये अन्तःक्रियाएँ निरन्तर चलती रहती है। (3) समूह की एक ओर अनिवार्यता समूह के सदस्यों के बीच में हम की भावना पर्याप्त रूपी से पायी जाती है। हम की भावना के दो पहलु है। पहला तो यह है कि व्यक्ति अपनी पहचान उस समूह से करता है जिसका वह सदस्य है और दूसरा समूह के लोग अपने सदस्यों को अपना समझते है। अन्य शब्दों में व्यक्ति की पहचान समूह से है और समूह की पहचान व्यक्ति से।

मर्टन का आग्रह है कि समूह में अपनी सदस्यों के लिए एकता की भावना होती है। समूह में एकीकरण जितना अधिक होगा, समूह उतना ही सुदृढ़ होगा। समूह के एकीकरण के निम्न बिन्दुओं पर मर्टन जोर देते हैं :

(1) समूह में एकीकरण की भावना तब शक्तिशाली बनती है। जब समूह के सदस्य इस बात का अनुभव करते है कि समूह को बचाये रखना उनके कल्याण के लिए आवश्यक है।

(2) समूह का एकीकरण इस तथ्य पर निर्भर है कि समूह के प्रत्येक सदस्य के उद्देश्यों की उपलब्धि में अपने योगदान और अपनी उपलब्धि की भावना से चेतना के स्तर पर जुड़ा रहता है।

(3) समूह की एकता के लिए यह भी आवश्यक है कि समूह के सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्ध घनिष्ठ और वैयक्तिक हों। पारस्परिक प्रोत्साहन और प्रशंसा के शब्द सदस्यों के बीच में होने अनिवार्य है।

(4) समूह का एकीकरण और अधिक सुदृढ़ होता है, जब समूह के उद्देश्य आसानी से प्रापत न हो और उनकी प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयत्न करना पड़े।

(5) समूह की एकता का एक और आधार भी है जब समूह के सदस्य संगीत, अनुष्ठान, पदवी, नारों आदि के प्रतीकों द्वारा बार–बार सदस्यों को बांधे रखें।

(6) समूह के एकीकरण के लिए यह भी आवश्यक है कि सदस्यों को समूह की परम्पराओं, उपलब्धियों और उच्चता का बराबर ज्ञान दिया जायें।

पिछले पृष्ठों में हमने समूह की व्याख्या वृहत् रूप में की है। यह निश्चित है कि सभी विचारकों ने इन अवधारणा को समाजशास्त्र की बुनियादी अवधारणा कहा है। इस शताब्दी के पाँचवे दशक में समूह की परिभाषा बहुत लचली थी। हाल में इस अवधारणा को आनुभाविक अध्ययनों की उपलब्धियों के आधार पर अधिक सशक्त बनाया गया है। विवाद होते हुए भी आज यह निश्चित रूप से कहा जा रहा है कि किसी भी समूह के लिए कुछ निश्चित तत्वों का होना आवश्यक है। ये निश्चित तत्व की समूह की विशेषताएँ है। अब हम इन्हीं विशेषताओं का उल्लेख करेंगे।

समूह की विशेषताएँ :

(1) **एक से अधिक सदस्य सदस्यों की बहुलता :** कोई भी व्यक्ति चाहे वह कितना ही महान क्यों न हों, समूह नही बनाता। समूह के लिए कम से कम दो व्यक्ति होने चाहिए। अधिकतम सदस्यों की संख्या वहाँ तक सीमित है जहाँ तक सदस्यों के बीच में किसी न किसी तरह की अन्तःक्रिया सम्भव हो।

(2) **सम्पर्क और अन्तःक्रिया :** हमने कहा है कि समुच्चय यानी एकाधिक व्यक्तियों का जमावड़ा समूह नहीं बनता। समूह के लिए आवश्यक है कि व्यक्तियों में पारस्परिक सम्पर्क हों और उनके बीच में अन्तःक्रियाएँ हों। मर्टन अन्तःक्रियाओं पर सबसे अधिक जोर देते हैं। निश्चित रूप से अन्तःक्रियाएँ समूह की प्राणवायु है।

(3) **पारस्परिकता की चेतना :** समूहों के सदस्यों में यह चेतना होनी चाहिए कि उनके समूह के सदस्य उनके ही भाई–बन्धु है। हम सब एक की आंगन की उपज है, यह चेतना समूह के लिए आवश्यक है। समूह के प्रति इस चेतना को कार्ल मार्क्स ने अधिक ताकत के साथ रखा है। मजदूर संघ का सदस्य यह जानता है कि अन्ततोगत्वा वो मजदूर है उसकी पहचान एक मजदूर की ही पहचान है। मार्क्स इसके लिए वर्ग चेतना की अवधारणा को काम में लाते हैं।

(4) **अन्तःक्रिया करने वाले लोगों में अपने को एक ईकाई समझने की भावना :** समूह का सदस्य अपनी अस्मिता को समूह के साथ जोड़ता है। वो यह समझता है कि समूह से पृथक उसकी न कोई पहचान है और न कोई अस्तित्व। साधारण शब्दों में, व्यक्ति की पहचान उसके समूह से है जिसका वह सदस्य है और दूसरी ओर समूह की पहचान उसके सदस्यों से हैं। दोनों का अस्तित्व पारस्परिक पहचान पर निर्भर है।

(5) **समान लक्ष्य :** कोई भी व्यक्ति किसी भी समूह का सदस्य समान लक्ष्णों के कारण बनता है। कभी–कभी ऐसा भी होता है जब समूह के लक्ष्य अपने आप सदस्य के लक्ष्य बन जाते है। परिवार का सदस्य या तो जन्म से बनता है या विवाह से। ऐसी अवस्था में जन्म के बाद या विवाह के उपरान्त सदस्य के लक्ष्य समूह के साथ जुड़ जाते है। जब तक सदस्य का समूह लक्ष्यों के साथ में तालमेल नहीं बैठता, व्यक्ति की सदस्यता अप्रासंगिक बन जाती है।

(6) **समान मानदण्ड :** वस्तुततः लक्ष्य साध्य होते हैं और मानदण्ड साधन। साध्य और साधन समूह के अनिवार्य तत्व है। ऐसी स्थिति में जब व्यक्ति साध्यों यानि लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए समूह का सदस्य बनता है तो परिणामस्वरूप उसके साधन यानि मानदण्ड भी एक जैसे होते हैं। यदि परिवार उच्च व तकनीकी शिक्षा को अपने सदस्यों की समृद्धि

के लिए स्वीकार करता है तो निश्चित रूप से सदस्य भी ऐसी शिक्षा प्राप्त करने के मानदण्डों को स्वीकार करेंगे।

(7) **समान मूल्य :** मानदण्ड का ऊंचा स्तर मूल्य होते हैं। इस दृष्टि से जब प्रत्येक समूह के मानदण्ड होते है तब उसके कुछ मूल्य भी होते हैं। समूह के सदस्यों का यह प्रयास होता है कि वे अपने निर्धारित मूल्यों को प्राप्त कर सकें।

समूह की परिभाषा उसके अर्थ और लक्षणों की व्याख्या अधूरी होगी। अगर हम यह याद न दिलायें कि आज के औद्योगिक और पूँजीवादी समाज में समूह का एक वृहत् स्वरूप भी हमारे सामने है और यह स्वरूप औपचारिक और विशाल संगठनों का है। आधुनिक और उत्तर आधुनिक समाजों का, जिनमें यूरोप व अमरीका जैसे देश सम्मिलित हैं, लघु समूहों का युग गुजर गया है। इन देशों में तो परिवार जैसे प्राथमिक समूहों की श्वास भी फूल रही है। यहाँ मनुष्य का लगभग सम्पूर्ण जीवन वृहत् संगठनों में गुजर जाता है। यह तो एशिया, अफ्रीका, और लेटिन अमरीका जैसे देश है जिनमें व्यक्ति का सरोकार सामान्य और छोटे समूहों से होता है। ऐसी स्थिति में समूह के जो लक्षण हमने ऊपर रखे हैं उन्हें वृहत् संगठनों के रूप में भी देखना चाहिए। निश्चित रूप से बोगार्डस के समय की यानी आज से पांच दशक पहले की समूह की अवधारणा बहुत कुछ अप्रासंगिक बन गयी हैं।

प्राथमिक समूह : अर्थ एवं परिभाषा :

प्राथमिक समूह के कई दृष्टान्त है, परिवार, मित्र मण्डली, जनजातीय समाज, पड़ोस और खेल समूह। इनके सदस्यों के बीच में घनिष्ठ अनौपचारिक, प्रत्यक्ष संबंध होते है। इस समूह के सदस्यों में अपनवत की भावना होती है। भारतीय गाँव एक प्राथमिक समूह है। गाँव के लोग न केवल एक दूसरे को व्यक्तिगत रूप से जानते है, वे प्रत्येक परिवार के इतिहास से परिचित होते हैं। इरावती कर्वे अपनी पुस्तक दि हिन्दु सोशल ऑरगनाइजेशन में

कहती है गाँव में जब कोई अजनबी आती है तो उसकी पहचान अजनबी के रूप में सारा गाँव करता है। गाँव के एक परिवार का दामाद वस्तुतः सम्पूर्ण गाँव का दामाद समझा जाता है। गाँव में उसके प्रवेश पर बहुएँ घूंघट खींच लेती है। एक परिवार का भानजा सम्पूर्ण गाँव का भानजा समझा जाता है। ये सब सम्बन्ध प्राथमिक है। कम से कम आज की भारतीय गाँव में प्राथमिक समूह का महत्व किसी भी अर्थ से कम नहीं किया जा सकता। प्रेमचन्द की कहानी गुल्ली डंडा में जिस खेल समूह का विवरण है, आज भी इसका महत्वपूर्ण स्थान है।

कूले ने अपनी पुस्तक सोशल ऑरगेनाजेशन में प्राथमिक समूह की परिभाषा इस तरह की है :

प्राथमिक समूहों से मेरा तात्पर्य ऐसे समूहों से है जिनकी विशेषता आमने–सामने के घनिष्ठ साहचर्य और सहयोग के रूप में व्यक्त होती है। ये समूह अनेक अर्थों में प्राथमिक है, परन्तु मुख्यतः इस बात में कि वे व्यक्ति की सामाजिक प्रकृति और आदर्शों के निर्माण में मौलिक है। घनिष्ठ साहचर्य का परिणाम यह होता है कि एक सामान्य सम्पूर्णता में वैयक्तिकताओं का इस प्रकार एकीकरण हो जाता है कि प्रायः कई प्रयोजनों के लिए व्यक्ति का अह्म समूह का सामान्य जीवन और उद्देश्य बन जाता है। इस सम्पूर्णता के वर्णन के लिए अति सरल विधि ‘हम’ कहना उचित होगा, क्योंकि वह अपने में उस प्रकार की सहानुभूति और पारस्परिक पहचान को समविष्ट करता है। इसके लिए ‘हम’ की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है।

किंग्सले डेविस ने अपनी पुस्तक ह्यमन सोसायटी में कूले की उपरोक्त परिभाषा की सुन्दर व्याख्या की है। वे कहते हैं कि प्राथमिक समूह के सदस्य रुबरु मिलते हैं, और हमनें हम की भावना सर्वोपरि होती है। वैसे हम दैनिक जीवन में कई लोगों के साथ रुबरू सम्बन्ध रखते है। व्यापारी और ग्राहक के सम्बन्ध, बैंक के काऊंटर पर बैठे बाबू से

सम्पर्क रुबरु या आमने सामने के संबंध होते है लेकिन ये आमने सामने के सम्बन्ध निश्चितरूप से किसी प्राथमिक समूह को नहीं बनाते। ये प्राथमिक समूह तो तब बनते है जब भावात्मक स्तर पर लोग आमने सामने मिलते है। प्राथमिक समूह के लिए गहन संवेगों का होना आवश्यक है। यह भी संभव है कि कभी–कभार द्वितीयक समूहों में भी कई बार प्राथमिक समूह बन जाते हैं। बैकिंग उद्योग में कई लोग काम करते हैं। यह द्वितीयक समूह है पर इसमें मुट्ठी भर लोग ऐसे भी होते हैं जो अपने आपको प्राथमिक स्तर पर बांध लेते हैं।

यद्यपि डेविस ने कूल की प्राथमिक समूह की परिभाषा की स्टीक व्याख्या की है, पर वे इस तरह की परिभाषा से असहमत भी है। कूले हम की भावना पर अत्यधिक जोर देते हैं। यह डेविस को स्वीकार नहीं है। उनका तो कहना है कि प्राथमिक समूह ही क्यों, सभी समूहों में कम या ज्यादा हम की भावना अवश्य होती है। ऐसी अवस्था में हम की भावना केवल प्राथमिक समूह की ही विशेषता हो, ऐसी नहीं है। भारत एक राष्ट्र है यानी यह द्वितीयक समूह है, इससे हम की भावना अनिवार्य रूप से पायी जाती है – हमारा भारत महान् है, हम सभी भारतवासी है, हमारा राष्ट्र भारतवर्ष है। ये सब मुहावरें हम की भावना से बंध हुए है। ऐसा होते हुए भी भारत राष्ट्र प्राथमिक समूह नहीं है। कूले का तो कहा है कि प्राथमिक समूह है तो वह अपने सदस्यों के सम्पूर्ण जीवन की देखरेख करता है। परिवार अपने सदस्यों का लालन–पालन करता है, शिक्षा–दीक्षा देता है, विवाह सम्पन्न करवाता है। रोगी होने पर सेवा करता है। तात्पर्य यह है कि प्राथमिक समूह अपने सदस्यों के सम्पूर्ण जीवन को अपनी सीमाओं में बांध लेता है।

एलेक्स इंकेल्स ने प्राथमिक समूह की बहुत बड़ी विशेषता आमने–सामने या रुबरु सम्बन्धों को माना है। वे लिखते हैं –

प्राथमिक समूह के सदस्यों के सम्बन्ध भी प्राथमिक होते हैं, जिनमें व्यक्ति एक दूसरेसे रुबरु मिलते हैं। इन समूहों में सहयोग और साहचर्य की भावनाएँ इतनी प्रभावपूर्ण होती है कि व्यक्ति का अहं हम की भावना में बदल जाता है।

टॉनिज ने समाज को समूहों का एक जाल कहा है। वे कहते है कि कोई भी समाज समुदायों और समितियों का एक संगठन है। वे समुदाय को जेमैनशाफ्ट कहते है। यदि उनकी परिभाषा की व्याख्या करें तो समुदाय वस्तुतः प्राथमिक समूह है। टॉनिज के अनुसार समुदाय के सदस्यों के बीच में भौतिक निकटता होती है, समुदाय का आकार छोटा होता है और समुदाय के सदस्यों में सामाजिक सम्बन्ध एक लम्बी अवधि तक चलते रहते हैं। इस भाँति टॉनिज के समुदाय के जो तीन लक्षण – भौतिक निकटता, छोटा आकार और लम्बी अवधि के संबंध – होते हैं वे प्राथमिक समूह में भी पाये जाते है। बोटोमोर ने टॉनिज के जेमैनशाफ्ट यानी समुदाय की व्याख्या की है और वे भी इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि समुदाय भी एक प्राथमिक समूह है।

जे.एल. मोरेना, कुमारी ईवी बारनेट, विलियम वाइट तथा रोबर्ट रेडफील्ड के अध्ययन प्राथमिक समूह के क्षेत्र में बहुत महत्वपूर्ण है। मोरेना ने छोटे समूहों के अध्ययन करके यह स्थापित किया कि ऐसे अध्ययन सामाजिक प्रयोगों के लिए उपयोगी होते है। कुमारी बारनेट ने पारिवारिक जीवन की एक बहुत ही अच्छी तस्वीर प्रस्तुत की है। वाइट ने अपनी पुस्तक द स्ट्रीट कोरनर सोसाइटी विश्लेषणात्मक अध्ययन किया है। रोबर्ट रेडफील्ड का अध्ययन वस्तुतः गाँवों का अध्ययन है। वे किसी भी गाँव को एक प्राथमिक समूह मानते है। अगले पृष्ठों में हम प्राथमिक समूह के जिन लक्ष्णों का उल्लेख करते है वे सब लक्षण प्राथमिक समूह के अध्ययन से निहित है। ये लक्षण इस भाँति है :

1. **एक से अधिक व्यक्ति** : कूल ने जब प्रारम्भ में प्राथमिक समूह की परिभाषा दी तब उन्होंने कहा कि समूह के लिए एक से अधिक सदस्यों का होना आवश्यक है। समूह

के इस लक्षण के सम्बन्ध के बाद के सभी समाजशात्रियों ने यह एक अनिवार्य लक्षण स्वीकार किया।

2. **संवेग :** कूल ने प्राथमिक समूह का दूसरा लक्षण संवेग बताया। ये संवेग हम की भावना को सुदृढ़ करते हैं। जब समूह के सदस्य संवेगात्मक रूप से जुड़े होते हैं तब बिना किसी हानि–लाभ की चिंता करते हुए वे एकजुट होकर रहते है।

3. **पारस्परिक पहचान :** कूल ने प्राथमिक समूह की एक और विशेषता पारस्परिक पहचान बतायी है। इसका तात्पर्य यह है कि व्यक्ति की समाज या समुदाय में पहचान अपने परिवार से होती है, अपने आप में वह कुछ नहीं है।

4. **शारीरिक समीपता :** किंग्सले डेविस ने प्राथमिक समूह का बहुत बड़ा लक्षण शारीरिक समीपता को माना है। एक ही छत के नीचे रहने के कारण प्राथमिक समूह के सदस्य एक दूसरे को बहुत निकटता से समझते है। येसदस्य एक ही चूल्हे से भोजन करते हैं, एक ही बटुए से खर्च करते हैं और सदस्यों के सम्पूर्ण जीवन का सरोकार प्राथमिक समूह से होता है। रोटी, कपड़ा, मकान, स्वास्थ्य, शिक्षा, रोजगार सभी में प्राथमिक समूहों के सदस्यों की किसी न किसी प्रकार से भागीदारी होती है।

5. **लघु आकार :** डेविस यह भी कहते हैं कि प्राथमिक समूहों का आकार छोटा होता है। छोटे आकार की कोई संख्या निर्धारित नहीं है लेकिन आकार इतना छोटा होना चाहिए कि समूह के सदस्य एक दूसरे से रुबरु हो सके, सम्पर्क कर सकें। नातेदार और समुदाय के सदस्य अन्तःक्रियाओं की दृष्टि से एक दूसरे के निकट होते हैं। इसीलिए डेविस कहते है कि समूह का आकार इतना छोटा होना चाहिए कि सदस्य एक दूसरे से प्रत्यक्ष सम्पर्क बनाए रख सकें। रेडफील्ड ने भी समूह के छोटे आकार को स्वीकार किया है।

6. **सम्बन्धों की अवधि :** यह लक्षण भी डेविस ने रखा है। वे कहते है कि प्राथमिक समूह के सदस्यों के सम्बन्ध छोटी अवधि के लिए नहीं होते। संबंध जितने लम्बे समय के

लिए होंगे, प्राथमिक समूह उतना ही अधिक सुदृढ्य और सुगठित होगा। गाँव के लोग पीढ़ी दर पीढ़ी एक दूसरे से जुड़े रहते हैं। पीढ़ियाँ भी इसी भाँति परिवार से जुड़ी रहती है। नातेदारों के सम्बन्ध भी लम्बी अवधि तक चलते है।

7. **सुनिश्चितता** : रोबर्ट रेडफील्ड ने प्राथमिक समूह के जो लक्षण रखे हैं उनका संदर्भ ग्रामीण समुदाय से है। उन्होंने मेक्सिको के गाँवों का अध्ययन किया है। भारतीय सामाजिक मानवशास्त्री इस शताब्दी के पांचवे दशक में रेडफील्ड के ग्रामीण अध्ययन से बहुत अधिक प्रभावित थे। इस दशक में तो रेडफील्ड की लोकप्रियता हमारे यहाँ चरम सीमा पर थी।

रेडफील्ड ने प्राथमिक समूह की बहुत बड़ी विशेषता सुनिश्चितता को बताया है। इसका मतलब यह है कि एक प्राथमिक समूह दूसरे अगणित प्राथमिक समूहों से पृथक होता है। इसकी अपनी एक अलग पहचान होती है। गाँव के संदर्भ में रेडफील्ड कहते है कि यह बहुत निश्चित है कि गाँव यहाँ प्रारम्भ होता है और वहाँ समाप्त होता है। परिवार की भी ऐसी ही पृथकता होती हे। यह परिवार अमुक पीढ़ियों का है, इसका गोत्र यह है और सामान्यतया इस परिवार में इस तरह के व्यवसाय होते रहते है।

8. **सजातीयता** : प्राथमिक समूह के सदस्य चाहे पुरूष हो या स्त्री, छोटे हों, या बड़े, समान स्तर के होते हैं। सामान्यतया सोच–विचार, शिक्षा–दीक्षा और धंधे में इन सदस्यों में कोई बहुत बड़ा अंतर नहीं होता। इसी कारण रेडफील्ड सजातीयता को प्राथमिक समूहों का बहुत बड़ा लक्षण मानते हैं। ग्रामीण समुदाय में तो धंधे की यानी कृषि की सजातीयता बहुत अधिक होती है। बाढ़ आ गयी या सूखा पड़ गया तब गाँव के लोग निराशा की सांस में ऊपर नीचे होने लगते हैं। यह एक प्रकार की मानसिक सजातीयता है।

9. **आत्मनिर्भरता** : रेडफील्ड गाँवों के बारे में कहते हैं कि यहाँ आत्मनिर्भरता होती है। पालने से लेकर श्मशान घाट तक की सम्पूर्ण आवश्यकताएँ गाँव में पूरी हो जाती है। इस अर्थ में प्राथमिक समूह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति में आत्मनिर्भर होते हैं। परिवार को

देखिए – गरीब हो या अमीर, अपने भाई–बहिनों की सभी आवश्यकताएँ यहाँ पूरी हो जाती है। मित्र मण्डली भी एक ऐसा समूह है जो अपने मित्रों की सहायता सभी आवश्यकताओं में करते हैं। यही हाल नातेदारों का भी है।

हमारे यहाँ गांधीजी जीवनभर यह कहते रहे कि हमें गाँवों को स्वावलम्बी बनाना चाहिये। इससे उनाक तात्पर्य यह था कि गाँव के लोग स्वयं अपनी आवश्यकताओं को पूरा करें। लोगों को खाने के लिए जितना अनाज चाहिए, गाँव के खेतों में पैदा किया जाना चाहिए। गाँव की अतिरिक्त उपज ही बाजार में पहुँचनी चाहिए। गाँव के कपड़े की आवश्यकता जुलाहे के करधे को करनी चाहिए। बुनियादी शिक्षा गाँव के स्कूल से मिल जानी चाहिए। ये सब तत्व या ऐसे ही तत्व प्राथमिक समुदाय को स्वावलम्बी बनाते है। यह निश्चित है कि आज के विश्वव्यापीकरण और उदारीकरण के युग में आत्मनिर्भरता हाशिये पर आ गयी है, फिर भी कई ऐसी आवश्यकताएँ है, जो सामान्यतया प्राथमिक समूहों के सदस्यों के कारण पूरी हो जाती है।

रेडफील्ड ने प्राथमिक समूह के जो लक्षण दिये है उनमें कतिपय लक्षण आधुनिक समाज के लिए अप्रासंगिक हो गये है। स्वयं रेडफील्ड ने इस अप्रांसगिकता की चर्चा की है। ऐसा लगता है कि औद्योगीकरण, शहरीकरण और विश्वव्यापीकरण के कारण समाज में जो तीव्रतम परिर्वतन आ रहे है उनमें प्राथमिक समूहों की भूमिका धीरे–धीरे, लेकिन निश्चित रूप से सिकुड़ रही है।

द्वितीयक समूह :

एन्थेनी गिडेन्स ने आज के समाज में द्वितीयक समूह के महतव को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। उनका कहना है कि हमारा दैनिक जीवन – सुबह से लेकर शाम तक – द्वितीयक समूहों के बीच में गुजरता है। एक तरह से हमारी श्वास दर श्वास द्वितीयक समूहों के

सदस्यों के साथ निकलती है। सही है गिडेन्स के यह विचार। यूरोप और अमरीका के देशों पर पूरी तरह से लागू होते हैं। हमारे देश में निश्चित रूप से द्वितीयक समूहों का वह स्थान नहीं है जो दूसरे देशों में है। ऐसी स्थिति के होते हुए भी हमारे यहाँ गाँवों का शहरीकरण शीघ्रता से हो रहा है। पंचायत राज और विकास योजनाओं ने अधिकारीतंत्र के जाल को दूर–दूर तक अपनी लपेट में ले लिया है। हर छोटे–बड़े काम के लिए गाँव के आदमी को सरकारी कार्यालय के द्वार को खटखटाना पड़ता है, प्रसूति तथा छोटी–मोटी दवा–दारु के लिए सार्वजनिक स्वास्थ्य केन्द्र के लिए दौड़ना पड़ता है और आवागमन के लिए परिवहन निगम की बसों पर चढ़ाना–उतरना पड़ता है। पान मसाला जिसे वह खाता है, कहीं दूर कानपुर या इन्दौर से आता है। तात्पर्य यह है कि अब गाँव की अर्थव्यवस्था, राजनीतिक व्यवस्था, मनोरंजन आदि द्वितीयक समूहों के साथ में जुड़े हुए है। ऐसी अवस्था में द्वितीयक समूहों का क्षेत्र हमारे यहाँ भी बहुत विशाल हो गया है।

द्वितीयक समूह : अर्थ एवं परिभाषा :

कूल ने प्राथमिक समूह के विवरण में द्वितीयक समूह की चर्चा नहीं की है। शायद 20वीं शताब्दी के प्रारंभ में विदेशों में भी द्वितीयक समूहों का अधिक महत्व नहीं था। इसी कारण कूले ने प्राथमिक समूहों की व्याख्या तक ही अपने आपको सीमित रखा। इन देशों में औद्योगीकरण और शहरीकरण के परिणामस्वरूप द्वितीयक समूह महत्वपूर्ण होने लगे हैं। इसी कारण 20वीं शताब्दी के मध्य पहुँचकर द्वितीयक समूह अध्ययन के मुख्य क्षेत्र बन गये। यह कहना अनुचित नहीं होगा कि समाज जितना अधिक आधुनिक, औद्योगिक और पूँजीवाद होगा, उतने ही अधिक उसमें द्वितीयक समूह होंगे। कूल के बाद के समाजशास्त्रियों ने द्वितीयक समूह की व्याख्या विशत् रूप में की है। यहाँ हम द्वितीयक समूह की कतिपय महत्वपूर्ण परिभाषाआं का उल्लेख करेंगे।

द्वितीयक समूह के लक्षण :

1. **द्वितीयक समूह लोगों की एक समिति है :** ये समूह मध्यम आकार से वृहद आकार के होते है। इनमें सदस्यों की संख्या बहुत बड़ी होती है। इसी कारण लोग एक दूसरे को जानते भी नहीं है। इन द्वितीयक समूहों को समिति इसलिए कहते हैं कि इनकी स्थापना सोच समझकर विधिवत् रूप से की जाती है। द्वितीयक समूहों के उदाहरण में अधिकारीतंत्र, स्वयं सेवी संस्थाएँ, व्यावसायिक संगठन आदि सम्मिलित है।

2. **अवैयक्तिक सम्बन्ध :** द्वितीयक समूह के सदस्य एक दूसरे को व्यक्तिगत रूप से नहीं जानते। बैंक के काउन्टर पर वह व्यक्ति जो चेक लेता है, या डाकघर में जो बाबू टिकट देता है, वह कौन सी जाति–बिरादरी का है, कहाँ का रहने वाला है, विवाहित या अविवाहित है, इससे हमें कोई व्यक्तिगत जानकारी नहीं है। हमारा उद्देश्य तो चेक का धन या डाक टिकट लेना है। तात्पर्य हुआ, द्वितीयक समूह के सदस्यों के साथ हमारे संबंध किसी निश्चित उद्देश्य को लेकर ही होते हैं। इससे आगे संबंधी हमारा कोई सरोकार नहीं होता।

3. **सम्बन्धों का आधार संविदा होता है :** द्वितीयक समूह के सदस्यों के साथ लम्बी अवधि तक हमारे संबंध होते है। बाजार का कामकाज बैंक के सम्बन्धों के बिना नहीं हो सकता। चिकित्सालय या सेवार्थ संस्थाओं के द्वितीयक संगठनों के साथ भी हमारे सम्बन्ध निश्चित नियमों के अनुसार होते है। कोई किसी पर कृपा नहीं करता।

4. **औपचारिक सम्बन्ध :** द्वितीयक समूहों में लोगों के साथ हमारे सम्पर्क वस्तुतः प्रस्थिति और भूमिका से जुड़े होते हैं। किसी अमुक प्रस्थिति में कौन सा व्यक्ति काम करता है, इस व्यक्ति से हमें कोई मतलब नहीं। आज इस प्रस्थिति में महेश काम करता है, कल वह चला जाता है और उसके स्थान पर सुरेश आ जाता है। हमें महेश व सुरेश से

कोई तात्पर्य नहीं है। हमारा संबंध तो उस प्रस्थिति के साथ है, जिस पर इन नामों के लोग काम करते थे। अतः द्वितीयक समूह में हमारे सम्पर्कों का उपागम हर स्थिति में औपचारिक ही होता है।

5. **निश्चित उद्देश्य** : द्वितीयक समूह में व्यक्ति के जीवन की सम्पूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती। प्रत्येक संगठन के कुछ सीमित और निश्चित लक्ष्य होते हैं। ये संगठन इन लक्ष्यों की पूर्ति के लिए ही काम करते है, इनसे आगे नहीं। अतः जहाँ कहीं हमारा संगठन से वास्ता पड़ता है, तो हमारे संबंध कुछ सीमित क्षेत्रों में ही होते है। चिकित्साल्य हमें बीमारी का निदान तो देगा, लेकिन यदि हम इससे हमारे पहनने के कपड़े मांगें तो इस आवश्यकता की पूर्ति का काम चिकित्सालय के क्षेत्र से बाहर है।

6. **संविदा के उल्लंघन पर दण्ड** : हम आग्रहपूर्वक कह रहे है कि द्वितीयक समूह संविदा की सीमा में काम करते है। यदि ये समूह संविदा की शर्तों को नहीं मानते तो इसका खामियाजा उन्हें पंचों या अदालत के माध्यम से भोगना पड़ेगा। जब बीमारोधक को उसकी निश्चित धनराशि नहीं मिलती, या उसके भुगतान में अड़चने आती है तो दोनों के लिए अदालत खुली हैं। संविदा द्वितीयक समूहों के सदस्यों के व्यवहार को नियंत्रित करती है।

अर्थ समूह :

यदि किसी तरह समाज का पोस्टामार्टम करने का अवसर मिलें तो हमें इसके अन्तर्गत समाज की संरचना और उसे सामाजिक समूह देखने को मिलेंगे। वास्तव में, समाज की जो भी जनसंख्या होती है, वह विभिन्न समूहों में बिखरी हुई होती है। निश्चित रूप से समाज में कई प्रकार के समूह देखने को मिलते है – प्राथमिक और द्वितीयक। कुछ ऐसे समूह भी होते हैं जो विशुद्ध रूप से प्राथमिक समूह भी कहें जा सकते है और न ही उन्हें द्वितीयक

समूह कहा जा सकता है। ऐसे समूहों को कुछ समाजशास्त्रियों ने अर्ध समूह का दर्जा दिया है। पिछले पृष्ठों में हमने वृहत् रूप से समूह को परिभाषित किया है। हमने कहा है कि सामाजिक समूह में सदस्यों के बीच में निश्चित सम्बन्ध होते है। दूसरा, समूह के सदस्य यह भी जानते है कि वे अमुक समूह के सदस्य है और इस समूह की पहचान कतिपय प्रतीकों के माध्यम से होती है। थोड़े शब्दों में कहा जाना चाहिये कि समूह में कोई न कोई संरचना अवश्य होती है। यह संरचना पूरी तरह से सम्बद्ध हो, यह आवश्यक नहीं है। दूसरा, समूह के सदस्य नियम–उपनियम के माध्यम से परस्पर जुड़े होते हैं। तीसरा, समूह के सदस्यों का जुड़ाव के आधार संवेगात्मक होता है। बोटामोर का तो कहना है कि सदस्यों में पाये जाने वाले ये लक्षण वस्तुतःसमाज को बनाते हैं।

बोटोमोर ने अर्थ समूहों की थोड़ी विस्तृत व्याख्या की है। नकारात्मक रूप से अर्ध समूह वे है जो न तो प्राथमिक समूह है और न द्वितीयक। इसका मतलब यह हुआ है कि बोटोमोर के अनुसार, अर्थ समूह वे है जिनमें समुच्चय होता है लेकिन किसी भी तरह की संरचना और संगठन नहीं होत। अन्य शब्दों में, अर्ध समूहों में एक से अधिक व्यक्ति होते हैं लेकिन इन व्यक्तियों के बीच में कोई अन्तःक्रियाएँ नहीं होती, निश्चित संगठन नहीं होता। वास्तव में प्राथमिक समूह के सदस्यों में एक दूसरे के लिए जो संवेगात्मक होती है वह अर्ध समूहों में नहीं होती। बोटोमोर में संरचना और संगठनों का कोई ज्ञान नहीं होता। महानगरों और औद्योगिक समाजों में अर्ध समूह बहुतायत रूप से पाये जाते है।

संदर्भ समूह :

व्यक्ति अपने इर्द–गिर्द कई समूहों से घिरा रहता है। ये समूह या तो प्राथमिक है या द्वितीयक। कुछ समूहों का वह सदस्या होता है कुछ का नहीं। कुछ समूहों को वह अच्छा मानता है और उनके मानदण्डों को स्वीकार करता है, कुछ समूहों के मानदण्डों की वह

निन्दा करता है। दिन–प्रतिदिन के जीवन में ऐसे कई समूहों का सरोकार व्यक्ति को होता है। देखिये, उसके परिवार के तौर–तरीके उसे पंसद नहीं है। यह क्या, सुबह के आठ बज गए हैं और सब सो रहे हैं। परिवार का कोई भी व्यक्ति स्वयं अपना काम नहीं करता। दिनभर बच्चे हा–हू करते रहते हैं और बड़े एक दूसरे के पाँव खींचते रहते है। रुचिकर बात यह है कि व्यक्ति जिस समूह का सदस्य है उसी की वह आलोचना करता है। दूसरी ओर, पड़ोस का परिवार है, एकदम साफ सुथरा। जल्दी सुबह उठकर सभी काम में जुट जाते हैं और पूरा दिन पूरी निष्ठा के साथ गुजर जाता है। इस परिवार का व्यक्ति सदस्य नहीं हैं, फिर भी इसकी प्रशंसा करने में वह थकता नहीं। इस तरह का दृष्टान्त इस तथ्य को उजागर करता है कि व्यक्ति जिस समूह का सदस्य है, आवश्यक नहीं है कि उसकी सराहना करें। जिसका सदस्य नहीं है उसकी प्रशंसा भी कर सकता है, यह सब समूहों का अपने समूह की तुलना में संदर्भ है। बहुत थोड़े से संदर्भ समूह का अर्थ उन समूहों से है जो व्यक्ति के संदर्भ के बिन्दु होते हैं, जिनकी ओर व्यक्ति उन्मुख होता है और उसके मूल्यांकन, पृवत्ति तथा व्यवहार को प्रभावित करते हैं।

संदर्भ समूह की अवधारणा रोबर्ट मर्टन ने दी है। विशत् रूप में इसकी व्याख्या करते हुए उन्होंने अपनी पुस्तक सोश्यल थ्योरी एण्ड सोश्यल स्ट्रक्चर में की है। पुस्तक में रखने से पहले इस सिद्धान्त की चर्चा मर्टन ने कई फुटकर निबन्धों में भी की है। मर्टन का कथन है कि व्यक्ति पर एक तो प्राथमिक सदस्यता और अन्तर्समूहों का प्रभाव पड़ता है और दूसरी ओर द्वितीयक, अ–सदस्यता और बाह्य समूह भी उसके व्यवहों और प्रवृत्तियों को प्रभावित करते है। वे समूह जिनके साथ अपनत्व, निकटता और 'हम' की भावना जुटी रहती है। पहली श्रेणी के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं, जो समूह दूसरे हैं, जिनसे दूरी है वे दूसरी श्रेणी में आते है। पहली श्रेणी के समूह की संख्या कम और दूसरी श्रेणी की अधिक

होती है। व्यक्ति अपने आदर्श, मूल्य, विश्वास, विचारधारा, और व्यवसाय की खोज में जिन समूहों की ओर उन्मुख होता है, उन्हें संदर्भ समूहों की संज्ञा दी जाती है।

संदर्भ समूह की अवधारणा : यह सामान्य बात है कि जब कभी कोई व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों के समूहों के साथ अन्तःक्रिया करता है तो ये क्रियाएँ शून्य में नहीं रहती। क्रियाओं को घेरे हुए सम्पूर्ण सामाजिक पर्यावरण होता है। बिना किसी संदर्भ के न तो क्रियाएँ हो सकती है, और न ही उन्हें समझा जा सकता है। व्यक्तियों के इर्द–गिर्द जो सामाजिक पर्यावरण होता है, समूह होते हैं, उनमें व्यक्ति कुछ का सदस्य होता है और कुछ का नहीं।

मर्टन का कहना है कि किसी समूह का सदस्य होकर भी व्यक्ति दूसरे समूह के सदस्य होने की अभिलाषा रखता है। जब वह दूसरे समूह या उसके सदस्यों के व्यवहारों का अनुकरण करता है तो यह उसका संदर्भ समूह व्यवहार है। व्यक्ति को ऐसा लगता है कि जिस वर्ग या समूह का वह सदस्य नहीं होता उसमें कुछ ऐसी सुविधाएँ दिखाई देती है, जो उसके समूह में नहीं होता, वह दूसरे समूह के मानक व मूल्यों को अपना लेता है। यह वह स्थिति है जिसमें वह गैर–सदस्य समूह के संदर्भ को अपने व्यवहार का आधार बनाता है। मर्टन ने संदर्भ समूह की परिभाषा इस भाँति की है :

सामान्यतः संदर्भ समूह सिद्धान्त का उद्देश्य मूल्यांकन तथा आलोचना की उन प्रक्रियाओं के निर्धारिकों को व्यवस्थित करता है जिनके द्वारा व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों या समूहों के मूल्यों या मानदण्डों को तुलनात्मक संदर्भ के रूप में स्वीकार या ग्रहण करता है।

3.2.4 संस्था– एक परिचय :

जब मैकाईवर और पेज तथा इसी तरह गिलिन और गिलिन की पाठ्यपुस्तकें अमरीका में प्रकाशित हुई तो इन लेखकों ने समाजशास्त्र की अवधारणा के रूप में समिति और संस्था को प्रस्तुत किया। भारतीय पाठ्यपुस्तकों में भी ये अवधारणाएँ धीरे–धीरे लोकप्रिय और

व्यापक हो गई। आज समाजशास्त्र में प्रचलित जो अवधाराणाएँ है, उनमें समिति और संस्था का स्थान महत्वहीन हो गया है। यह अवश्य है कि जब आधुनिकीकरण, औद्योगिकरण और शहरीकरण की प्रक्रियाओं के स्वरूप जिन औपचारिक संगठनों का उद्‌गम हुआ है उनकी चर्चा तो बहुत होती है। दूसरी तरफ जब कभी संस्था की अवधारणा को काम में लिया जाता है तो उसका अर्थ समिति से भी लिया जाता है। संस्था और समिति का अर्थ इतना व्यापक और लोकप्रिय है कि लगभग सभी समाज विज्ञानों में इन्हें प्रयोग में लाया जाता है।

संस्था और समिति इस भाँ मिलेजुले हैं कि भौतिक रूप से दोनों को पृथक करना कठिन हो जाता है। इस कठिनाई के होते हुए भी विश्लेषण के लिए समिति और संस्था में अंतर किया जा सकता है। यदि समिति व्यक्तियों का एक समूह है तो समिति का कार्य पद्धति, उसके नियम–उपनियम उसकी संस्था है। सामान्य शब्दों में यही कहना चाहिए कि संस्था उद्देश्य प्राप्त करने की कार्य पद्धति है। संस्था साधन है और इसके माध्यम से समिति अपने लक्ष्यों को प्राप्त करती है। यदि भारतीय राष्ट्र एक समिति है तो इसका संविधान, सरकार की नियम–उपनियम यानी संस्था होनी चाहिए। दूसरी ओर यदि कुछ नियम, उपनियम है, विधान या संस्था है तो इसके पीछे कोई न कोई समिति अवश्य होगी।

संस्था किसे कहते हैं ?

पारसंस ने सामाजिक व्यवस्था की चर्चा बड़े विशद रूप में की है। किसी भी व्यवस्था को बनाने के लिए व्यवस्था के अंगों में एकीकरण आवश्यक है। यह एकीकरण व्यवस्था की संस्थाओं द्वारा होता है। प्रत्येक समाज में निश्चित मानक और मूल्य होते है। इन मूल्यों के द्वारा ही समाज के सदस्य पारस्परिक रूप से जुड़े रहते है। मानक और मूल्यों के कारण

व्यवस्था या समाज के सदस्य सामान्य व्यवहार समाज द्वारा मान्य होता है। हमारे खान–पान, रहन–सहन, तीज–त्यौहार, खेलकूद, शिक्षा–दीक्षा से जुड़े हुए व्यवहार निर्धारित है और हम सभी समाज के अस्तित्व को बनाये रखने के लिए इन संस्थाओं का पालन करते हैं। अन्य शब्दों में, अन्तःक्रियाओं, सम्पर्कों, महत्वाकांक्षाओं और प्रयत्नों के परिणामस्वरूप हम एक निर्धारित व्यवहार को जन्म देते हैं जिसे तकनीकी भाषा में संस्था कहते हैं।

समाजशास्त्र के साहित्य में संस्था की अवधारणा का दुरुप्रयोग हुआ है। उदाहरण के लिए, आगर्बन तथा नीमकॉफ संस्था का प्रयोग बड़े लचीले रूप में करते है। उनके अनुसार समिति और संस्था में कोई अंतर नहीं है। साधारण जनजीवन में तो संस्था का अर्थ समिति के अर्थ में लिया जाता है। जिस वस्तु का मूर्त आकार हो, जैसे कि महाविद्यालय, सचिवालय, अस्पताल, क्लब आदि उसे आम लोग संस्था कहते हैं। समाजशास्त्र की पारिभाषिक शब्दावली में इन सबको हम समिति कहते है। यहाँ पर बहुत स्पष्ट है कि आम भाषा और पारिभाषिक भाषा में बहुत बड़ा अंतर है।

कुछ समाजशास्त्रियों ने संस्था की अवधारणा को परिभाषित किया है। सामान्यतया इन लेखकों को आग्रह है कि संस्था तो एक साधन है या पारसंस की भाषा में इन्टुमेन्टेलिटी यानी साधन है, जिसके माध्यम से समिति के लक्ष्यों को प्राप्त किया जाता है। संस्था की परिभाषा करते हुए बार्न्स लिखते हैं :

संस्था एक सामाजिक ढांचा और यंत्र है जिसके द्वारा मानव समाज मानवीय आवश्यकताओं को संतुष्ट करने के लिए अगणित क्रियाओं को संगठित, संचालित और क्रियान्वित करता है।

बार्न्स की इस परिभाषा के अनुसार तो संस्था और समिति में कोई अन्तर नहीं है। इस अर्थ में परिवार, विवाह और प्रशासन संस्थाएँ है। मैकाईवर तथा उनके सहयोगी, बार्न्स की इस परिभाषा से सहमत नहीं है। वे समिति तथा संस्था में बुनियादी अंतर पाते है।

मैकाईवर का तो कहना है कि प्रत्येक समिति के निर्धारित नियम, उपनियम और परम्पराएँ होती है। समिति इन्हीं परम्पराओं की लीक पर रेल के इंजिन की तरह चलती रहती है। उदाहरण के लिए, परिवार, पुरुष–स्त्री और बच्चों की एक समिति है इसके नियम, उपनियम और परम्पराएँ है। पति दफ्तर में काम करता है, स्त्री घर की देखभाल करती है, बच्चों का उत्तरदायित्व दोनों पर है, दोनों बच्चों के स्वास्थ्य की देखभाल करते हैं, उन्हें पढ़ाते–लिखाते हैं। संक्षेप में, प्रत्येक परिवार में एक प्रकार के सुसंगठित रीति–रिवाज है। परिवार उन्हीं पर चलते हैं। इसी भांति कॉलेज को लीजिये, यह अध्यापक और विद्यार्थियों की एक समिति है, पर इस समिति को चलाने के लिए कॉलेज के कुछ नियम, उपनियम है। कॉलेज में प्रवेश लेने के पहले प्रार्थना–पत्र देना पड़ता है, कॉलेज के पुस्तकालय के नियमों का पालन कराना होता है। ये सब कॉलेज की समिति के नियम है। अतः समिति को चलाने के लिए जो नियम–उपनियम होते हैं, परम्पराएँ होते हैं, उन्हें ही हम संस्था कहते हैं, परिवार बनाने के लिए विवाह और परिवार की नैतिकता इसकी संस्था है।

मैकाईवर और पेज कहते हैं :

संस्था को संस्थापित पद्धति के स्वरूपों में पारिभषित किया जाता है।

कूले के अनुसार :

संस्था किसी अत्यंत महत्वपूर्ण आवश्यकता की पूर्ति के लिए सामाजिक विरासत में स्थापित सामूहिक व्यवहारों का एक जटिल तथा घनिष्ठ सम्बन्ध है।

संस्था की परिभाषा करते हुए समनर लिखते हैं :

संस्था के अन्तर्गत अवधारणा (विचार, मत, सिद्धांत, स्वार्थ) और संगठन होता है।

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि संस्था एक पद्धति है, एक ढंग है, जो समिति के सदस्यों द्वारा निर्धारित है, मान्य है। समाजशास्त्र के विद्यार्थी विवाह, दहेज, पर्दा,

ग्राम–पंचायत आदि संस्थाओं का विवेचन करते हैं। इन्हें हम संस्था के नाम से इसलिए पुकारते हैं कि ये एक प्रकार की पद्धतियाँ है जिन्हें हमने निर्धारित एवं स्वीकृत किया है।

संस्था की परिभाषाएँ

(1) **कार्य पद्धति** : वस्तुतः संसथा समिति के काम करने की एक पद्धति है। समिति का गठन कुछ उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए होता है। उद्देश्य प्राप्ति के लिए जिन साधनों को अपनाया जाता है, वे ही संस्था है। ये संस्थाएँ जब विकसित हो जाती है तो स्वतंत्र संस्था का रूप ग्रहण कर लेती है।

(2) **संस्था अमूर्त होती है** : संस्था वास्तविक रूप में नियम, उदनियमों से बनी होती है। ये नियम, उपनियम, रीति–रिवाज और परम्पराएँ अमूर्त होते हैं। इन्हें कागजों में देखा जा सकता है या नियमों और परम्पराओं द्वारा समझा जा सकता है। आनुभाविक रूप से इनका अवलोकन नहीं किया जा सकता। इसी कारण से अमूर्त है।

(3) **अपेक्षित निरन्तरता** : यह कहना तो बहुत कठिन है कि संस्थाएँ चिरन्तन होती है। भारतीय समाज की कई ऐसी संस्थाएँ थी, जो उभरती हुई नयी सामाजिक शक्तियों के सामने विलीन हो गयी। एक समय था जब जाति व्यवस्था की बुनियादी पहचान अस्पृश्यता थी। अछूत मन्दिर में प्रवेश नहीं कर सकते थे। जाति का यह संस्थागत स्वरूप लगभग समाप्त हो गया है। गाँवों में प्रचलित जजमानी संस्था का सांस भी फूल गयी है। अतः निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि एक बार बन गयी संस्था निरन्तर चलती रहती है। सामान्य बात तो यह है कि जब समिति टूट जाती है तो इसे चलाने वाले नियम–उपनियम अपने आप दम तोड़ देते हैं।

संस्था के जीवनकाल पर लगा हुआ यह प्रश्नचिन्ह सामान्यता संसथा को थोड़ा बहुत स्थायित्व तो देता ही है। यद्यपि संयुक्त परिवार विघटित होने लगे हैं, फिर भी थोड़े–बहुत

अन्तर के साथ इसे बनाये रखने वाली संस्थाएँ आज भी चल रही है। संस्था, मोटे रूप में थोड़ा बहुत स्थायित्व तो रखती ही है।

(4) **परिवर्तनशीलता** : कोई भी समाज जड़ नहीं होता। उसमें परिर्वतन अवश्य आता है। परिवर्तन के साथ-साथ संस्थागत ढाँचे में भी परिवर्तन आने लगता है। पिछले दशकों में भारतीय संरचना का आधार पवित्र और अपवित्र के मूल्यों से बना हुआ था। जब भारतीय संरचना में विवेकशीलता का प्रवेश हुआ तो पवित्र-अपवित्र के मूल्य भी कमजोर होने लग गये। ऐसी स्थिति में यह निश्चित रूप से कहा जाता है कि समाज के परिवर्तन के साथ-साथ संस्थाओं में भी परिवर्तन आता है।

3.3 सारांशः

- समाज एक बहुत बड़ा समूह है जिसका कोई भी व्यक्ति सदस्य हो सकता है। समाज जनसंख्या, संगठन, समय, स्थान और स्वार्थों से बना होता है।
- समूहों की अपनी एक संस्कृति होती है, एक सामान्य भाषा होती है, खान-पान होता है, जीवन पद्धति होती है, और तिथि त्यौहार होते हैं। इस तरह की बहुत उप-संस्कृतियाँ जब तक देश के क्षेत्र में मिल जाती है तब वे एक वृहद संस्कृति का निर्माण करती हैं।
- समुदाय का अर्थ एक संरचना से था जिसमें लोग या परिवार एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में रहते थे। समुदाय के प्रति यह दृष्टिकोण संरचनात्मक था। गाँव, कस्बे और शहर इस विचारधारा के अनुसार समुदाय है।
- समुदाय जागरूकता से बनाया गया संघ्ञ है जो एक निश्चित क्षेत्र या बस्ती में रहता हो। इसके पास सीमित राजनीतिक अधिकार होता है और यह सामाजिक संस्थाओं जैसे स्कूल, मन्दिर, गिरिजाघर आदि पर देखरेख रखता है।

- समूह के सदस्यों की अन्तःक्रियाएँ नियमित रूप से होती रहती है। नियमित रूप से होने वाली अन्तःक्रिया ही व्यक्तियों को समूह का सदस्य बनाती है।
- सामाजिक समूह केवल व्यक्तियों का एक योग है जो नियमित रूप से एक दूसरे के साथ अन्तःक्रिया करते है। इस तरह की नियमित अन्तःक्रियाएँ समूह के सदस्यों को एक निश्चित इकाई का रूप देती है। इन सदस्यों की पूर्ण रूप से सामाजिक पहचान अपने समूह से ही होती है।
- प्राथमिक समूह के कई दृष्टान्त है, परिवार, मित्र मण्डली, जनजातीय समाज, पड़ोस और खेल समूह। इनके सदस्यों के बीच में घनिष्ठ अनौपचारिक, प्रत्यक्ष संबंध होते है। इस समूह के सदस्यों में अपनत्व की भावना होती है।
- प्राथमिक समूह के सदस्यों के सम्बन्ध भी प्राथमिक होते हैं, जिनमें व्यक्ति एक दूसरेसे रुबरु मिलते हैं। इन समूहों में सहयोग और साहचर्य की भावनाएँ इतनी प्रभावपूर्ण होती है कि व्यक्ति का अहं हम की भावना में बदल जाता है।
- समाज जितना अधिक आधुनिक, औद्योगिक और पूँजीवाद होगा, उतने ही अधिक उसमें द्वितीयक समूह होंगे।
- संस्था को संस्थापित पद्धति के स्वरूपों में पारिभषित किया जाता है।
- संस्था किसी अत्यंत महत्वपूर्ण आवश्यकता की पूर्ति के लिए सामाजिक विरासत में स्थापित सामूहिक व्यवहारों का एक जटिल तथा घनिष्ठ सम्बन्ध है।

3.4 सूचक शब्द :

समाज : समाज एक बहुत बड़ा समूह है और व्यक्ति उसके सदस्य है। समाज के अन्तर्गत जनसंख्या, संगठन, समय, स्थान और विभिन्न हेतु होते हैं। जनसंख्या के सभी आयु और लिंगों के व्यक्ति होते हैं। पुरुष, स्त्री, बच्चे और बूढ़े सभी समाज के सदस्य है। इन

सदस्यों के विभिन्न संगठन–परिवार, वर्ग, जाति आदि होते हैं। समाज का एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र होता है और सदस्यों के कुछ सामाजिक स्वार्थ और उद्देश्य होते हैं। ये सब समाज के लक्षण है।

एक से अधिक सदस्य : कोई भी समाज हो, उसके लिये एक से अधिक सदस्यों की आवश्यकता होती है। अकेला व्यक्ति जीवनयापन नहीं कर सकता है और यदि वह किसी तरह जीवन निर्वाह कर भी ले, तब भी वह समाज नहीं कहा जा सकता। समाज के लिये यह अनिवार्य है कि उसमें दो या अधिक व्यक्ति हों।

वृहद संस्कृति : समूहों की अपनी एक संस्कृति होती है, एक सामान्य भाषा होती है, खान–पान होता है, जीवन पद्धति होती है, और तिथि त्यौहार होते हैं। इस तरह की बहुत उप–संस्कृतियाँ जब तक देश के क्षेत्र में मिल जाती है तब वे एक वृहद संस्कृति का निर्माण करती हैं।

क्षेत्रीयता : किसी भी संस्कृति का कोई न कोई उद्गम का क्षेत्र अवश्य होता है। प्रत्येक देश की अन्तर्राष्ट्रीय सीमाएँ होती है। इस क्षेत्रीयता की भूमि से ही संस्कृति का जुड़ाव होता है। यदि हम उत्तराखण्ड की संस्कृति की बात करते हैं तो इसका मतलब हुआ कि इस संस्कृति का जुड़ाव हिमाचल या देव भूमि के साथ है।

काम प्रजनन : समाज की वृद्धि और विकास के लिये बराबर नये सदस्यों की आवश्यकता रहती है। सामान्यतया समाज की सदस्यतया की सततता को बनाये रखने का तरीका काम प्रजनन है।

समुदाय : प्रारंभ में समुदाय से मतलब एक ऐसे भू–भाग से था जिसमें लोग पारस्परिक आर्थिक क्रियाएँ करते थे और राजनीतिक दृष्टि से उनके पास स्वायत शासन की एक इकाई थी। इस दृष्टि से समुदाय का अर्थ एक संरचना से था जिसमें लोग या परिवार एक

निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में रहते थे। समुदाय के प्रति यह दृष्टिकोण संरचनात्मक था। गाँव, कस्बे और शहर इस विचारधारा के अनुसार समुदाय है।

समूह : समूह में सम्मिलित लोगों के बीच में पारस्परिक सम्पर्क होता है और यह स्मपर्क हमेशा बना रहता है। समूह के सदस्यों की अन्तःक्रियाएँ नियमित रूप से होती रहती है। नियमित रूप से होने वाली अन्तःक्रिया ही व्यक्तियों को समूह का सदस्य बनाती है।

प्राथमिक समूह : प्राथमिक समूह के कई दृष्टान्त है, परिवार, मित्र मण्डली, जनजातीय समाज, पड़ोस और खेल समूह। इनके सदस्यों के बीच में घनिष्ठ अनौपचारिक, प्रत्यक्ष संबंध होते है। इस समूह के सदस्यों में अपनत्व की भावना होती है।

द्वितीयक समूह : हमारा दैनिक जीवन – सुबह से लेकर शाम तक – द्वितीयक समूहों के बीच में गुजरता है। समाज जितना अधिक आधुनिक, औद्योगिक और पूँजीवाद होगा, उतने ही अधिक उसमें द्वितीयक समूह होंगे।

संस्था : किसी भी व्यवस्था को बनाने के लिए व्यवस्था के अंगों में एकीकरण आवश्यक है। यह एकीकरण व्यवस्था की संस्थाओं द्वारा होता है। अन्तःक्रियाओं, सम्पर्कों, महत्वाकांक्षाओं और प्रयत्नों के परिणामस्वरूप हम एक निर्धारित व्यवहार को जन्म देते हैं जिसे संस्था कहते हैं।

3.5 स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्नः

1 समुदाय क्या है? अपने उत्तर के समर्थन में सटीक उदाहरण भी दीजिए।

2 स्माज के बारे में विस्तार से लिखें।

3 समूह के विविध पहलुओं पर प्रकाश डालें।

4 संस्था क्या है? अपने उत्तर के समर्थन में सटीक उदाहरण भी दीजिए।

3.6 संदर्भित पुस्तकें:

जन संचार मे स्नातक पाठ्यक्रम – द्वितीय वर्ष

समाजशास्त्र – बी एम सी 106

खण्ड ब   इकाई एक   पाठ संश्या 4

परिवार, विवाह और नातेदारी

लेखकः प्रो0 एम एल गोयल ।

गोंर्वमेंट कॉलेज, हिसार ।

वैटरः प्रो0 बी के कुठियाला ।

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र ।

सिम शैली में परिर्वतनः श्री मिहिर रंजन पात्र ।

वरिष्ठ व्याख्याता, गुरु जम्भेश्वर विश्वविद्यालय, हिसार।

अध्याय संरचनाः

यह अध्याय परिवार, विवाह और नातेदारी पर आपके भ्रम को दूर करने का प्रयास है। अध्याय संरचना इस प्रकार रहेगीः

4.0 उद्देश्य

4.1 परिचय

4.2 विषय वस्तु की प्रस्तुति

4.2.1 परिवार– एक परिचय

4.2.2 विवाह– एक परिचय

4.2.3 नातेदारी– एक परिचय

4.3 सारांश

4.4 सूचक शब्द

4.5 स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

4.6 संदर्भित पुस्तकें

4.0 उद्देश्यः

इस अध्याय के उद्देश्य इस प्रकार हैंः

- परिवार के बारे में जानना
- विवाह के बारे में जानना
- नातेदारी के बारे में जानना

4.1 परिचय :

मनुष्य सबसे बड़ा आविष्कारक है। इस क्षेत्र में उसकी उपलब्धियाँ अगणित है लेकिन वह जितना आविष्कारक है, उतना ही अधिक गैर–आविष्कारक भी। सदियां दर सदियां गुजर गयी; साल दर साल गुजर गये, कई आविष्कार हो गये; आदमी कहां से कहां पहुंच गया लेकिन परिवार, विवाह और नातेदारी आज भी जहां के तहां अपने पांव गढ़ाये हुए स्थिरत है।

बराबर, मनुष्य किसी आविष्कार के जो कुछ कुशलता औश्र संस्कृति उसने पिछली पीढ़ियों से सीखी है, पूरी ईमानदारी के साथ आने वाली पीढ़ियों को हस्तांतरित किया है। बराबर बच्चों का प्रजनन होता है, उनका पालन पोषण होता है; मकान बनाये जाते है, मछलियां पकड़ी जाती है या गेहूं और चावल पकाये जाते है, और जानवरों को मारकर उनका मांस खाया जाता है। यह ठीक है कि आदमी के आविष्कार ने बच्चों के प्रजनन को

सीमित कर दिया हो, भवन निर्माण की कला में इजाफा हुआ हो, मछली पकड़ने या अनाज पैदा करने की नयी तकनीक आयी हो, फिर भी मकान आज भी मकान है, बच्चों को प्रजनन आज भी होता है और कुछ इसी तरह परिवार, विवाह और नतेदारी भी ज्यों की त्यों हैं, आविष्कार के चुंगल में नहीं आये। ये तीनों संस्थाएं मनुष्य जाति की बुनियादी संस्थाएं है।

समाज में कितने ही आन्दोलन आये और गये, क्रांतियां उभरी और अस्त हुई लेकिन कुल मिलाकर मनुष्य अपने ज्ञान को, काम करने के तरीकों को, आदतों और मूल्यों को, एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक निरन्तर पहुंचाता आया है। यही उसकी गैर–आविष्कारक की भूमिका है।

यह अध्याय परिवार, विवाह और नातेदारी पर आपके भ्रम को दूर करने का प्रयास है।

4.2 विषय वस्तु की प्रस्तुतिः

इस अध्याय में विषय वस्तु की प्रस्तुति इस प्रकार रहेगी :

- परिवार– एक परिचय
- विवाह– एक परिचय
- नातेदारी– एक परिचय

4.2.1 परिवार– एक परिचय :

परिवार किसी भी समाज की एक प्राथमक इकाई है। मनुष्य का जन्म परिवार में ही होता है। उसकी बाल्यावस्था परिवार से ही गुजरती है। यहीं वह चलना–फिरना सीखता है। भाषा को अपनाता है, व्यहवार के प्रतिमान सीखता है और इस भांति हर अर्थों में परिवार व्यक्ति

के लिए एक सार्वभौम समूह है। परिवार जनजाति समाज, ग्रामीण, समुदाय, महानगर और नगर सभी में पाये जाते हैं। विभिन्न धार्मिक समूहों, संस्कृतियों और एथ्निसिटी में परिवार की उपस्थिति अनिवार्य है लेकिन परिवार के संबंध में यह सब कहना निर्विवाद नहीं है। यह भी कहा जाता है पूर्ण रूप से परिवार सार्वभौमिक नहीं है। इस पृथ्वी के धरातल पर ऐसी जनजातियां भी है जिनमें परिवार नहीं होते। कुछ समाजशास्त्री कहते हैं कि परिवार था और आज वह मर चुका है। कुछ यह भी कहते है कि परिवार अजर–अमर है। ये सब मुद्दे ऐसे है जिन पर हम यहां विसतारपूर्वक लिखेंगे :

परिवार के दो पक्ष है : संरचनात्मक और संस्थागत। परिवार कुछ सदस्यों से मिलकर बनता है। ये सदस्य एक साथ रहते है। इनका घर होता है। इनकी एक सम्मिलित सम्पति होती है। परिवार एक–एक निश्चित धर्म या उसके पूजा की परम्परागत विधियां होती है। परिवार की संरचना के मूल में कुछ निश्चित नियम होते हैं, कार्य प्रणाली होती है। इसी कारण हम इसे संरचना और संस्था दोनों रूपों में देखते है। इसका एक तीसरा स्प है कार्यों का होता है। परिवार के कुछ निश्चित कार्य होते है और ये कार्य परम्परागत और नये भी होते है।

परिवार का अर्थ और परिभाषा :

परिवार की परिभाषा देना कठिन है। यह इसलिए कि दुनियाभर में परिवार का कोई एक ही अर्थ लिया जाता हो ऐसा नहीं है। ऐसे समाज है जहां एक पति–पत्नी परिवार ही पाये जाते है। कुछ समाजों में बहुपत्नी परिवार होते है और कुछ में बहु पति। संरचना की दृष्टि से केन्द्रीय परिवार होते है। भारत या जापान ऐसे एशिया के देशों में विस्तृत या संयुक्त परिवार होते है। परिवार की ऐसी कोई परिभाषा देना जो सभी समाजों पर समान रूप से

लागू हो जायें, बहुत कठिन है। हमारा प्रयास होगा कि हम उन सभी परिभाषाओं का उल्लेख करें जो परिवार के विभिन्न प्रकारों को अपने परिवेश में समा सके।

क्या परिवार का उन्मूलन हो गया है?

यह कहा जात है कि परिवार एक सार्वभौमिक संसथा है लेकिन चित्र का यह एक पहलू है। इसका दूसरा पहलू भी है। यह कहा जाता है कि ऐसे समुदय भी है जिसमें परिवार नाम की कोई संस्था नहीं है। इजराइल के किब्बूट्झ लोगों में परिवार जैसी कोई व्यवस्था नहीं है। सच में देखा जाये तो किब्बूट्झ मुरडॉक के दावें को रद्द करते है। इजराइल की कोई 4 प्रतिशत जनसंख्या 240 किब्बूट्झ बस्तियों में रहती है।

किब्बूट्झ के सदस्य धन और सम्पत्ति के स्वामित्व को सामूहिक रूप से व्यहवार में लाते है। उनकी मुख्य अर्थ व्यवस्था कृषि पर निर्भर है। इसके अतिरिक्त वे कुछ हल्के उद्योग धंधों को भी करते है। इन लोगों में परिवार के नाम पर कुछ वैचारिक और आर्थिक कारक होते है। इस समूह में विवाह एक पति–पत्नी के बीच में होता है इन दोनों के बीच में बैडरुम होता है। इनके साथ में इनके बच्चे नहीं रहते। बच्चे युवागृहों में निवास करते है। इन बच्चों का रख–रखाव या उन्हें शिक्षा–दीक्षा कोई संरक्षक करता है। ये बच्च युवागृह में सोते है और वहीं भोजन करते है। अपने माता–पिता के पास ये बच्चे एक अतिथि की तरह जाते है।

यदि मुरडॉक की परिभाषा के आधार पर कहें तो किब्बूट्झ में परिवार के सदस्यों के रहने के लिए सम्मिलित निवास नहीं होता और दूसरा इनके बीच में कोई आर्थिक संबंध नहीं होते और इसी कारण इन लोगों में परिवार जैसी कोई संस्था नहीं है। इनके संबंध तो केवल यौन संबंध होते है।

परिवार का मार्क्सवादी संदर्श :

मार्क्सवादी वर्ग संघर्ष और वर्ग संरचना से इतने जूझते है कि उन्होंने कभी भी परिवार की संरचना, परिभाषा और विकास पर कोई ध्यान नहीं दिया। केवल एंजिल्स (1884) ने परिवार के उद्गम, निजि सम्पत्ति और राज्य पर विस्तार से लिखा है। उन्होंने 19वीं शताब्दी के अन्य उद्विकासवादियों की तरह परिवार की व्यवाख्या की है। उनका कहना है कि जब-जब उत्पादन के तरीकों में परिवर्तन आया, परिवार में भी परिवर्तन आया।

मनुष्य के उद्विकास के प्रांरभिक युग में जब उत्पादन की शक्तियों पर सम्पूर्ण समुदाय का अधिकार था, इस अवस्था में परिवार का कोई अस्तित्व ही नहीं था। इस समाज में न तो यौन संबंधों पर कोई रोक-टोक थी और न परिवार था। यद्यपि एंजिल्स की इस विचारधारा से कई लोग सहमत नहीं है और कहते हैं कि यह एजिंल्स की केवल अट्कलबाजी है, फिर भी कैथलीन गफ जो लम्बी अवधि तक हमारे देश में तमिलनाडु में रही, का कहना है कि शायद एंजिल्स सत्य से अधिक दूर नहीं थे। अपने तर्क के प्रमाण में गफ चिम्पाजियों का दृष्टान्त देती है कि आज भी ये बन्दर एक झुण्ड में रहते है, आपस में यौन संबंध रखते है और इनका भी कोई परिवार नहीं है।

एंजिल्स कहते हैं कि धीरे-धीरे यौन संबंधों पर नियंत्रण आने लगा, श्रम विभाजन का विकास हुआ और इसी के अनुयप परिवार आये। मार्क्सवादी विश्लेषण के अनुसार परिवार पूँजीवादी समाज की देन है औश्र इसका विकास मुख्यतया इस शताब्दी के छटे-सातवें दशक में ठीक तरह से हो गया।

परिवार के मुख्य तत्व :

परिवार की संस्था सार्वभौमिक है लेकिन यह भी सही है कि सभी समाजों में परिवार एक जैसे नहीं है। कहीं बहुपत्नी परिवार है, तो कहीं बहुपति। कहीं पितृवंशीय परिवार हैं और कहीं मातृवंशीय। इस विभिन्नता के होते हुए भी बहुसंख्यक परिवार एक पति-पत्नी परिवार हैं। यहां परिवार में सामान्य रूप से पाये जाने वाले लक्षणों का उल्लेख करेंगेः

(1) **यौन सम्बन्ध :** सामान्यता सभी समाजों में परिवा में यौन संबंध अनिवार्य रूप से पाये जाते है। यह अवश्य है कि कभी–कभी पत्नी या पति की मौत के कारण, विवाह–विच्छेद होने से यौन संबंध नहीं होते। ऐसी अवस्था में पिता या माता ही परिवार को बनाते है उस अपवाद के होते हुए भी परिवार में यौन संबंधों को समाज द्वारा वैधता प्राप्त होती है।

(2) **प्रजनन :** परिवार एक बहुत बड़ा लक्षण सन्तानोत्पत्ति है। दुनियाभर के लोगों की यह मान्यता रही है कि यदि प्रजनन न किया जाये तो समाज की निरन्तरता समाप्त हो जायेगी। हिन्दुओं में तो अविवाहित पुरुष या स्त्री को स्वर्ग प्राप्त नहीं होता। इसी कारण अविवाहित व्यक्ति का मरणोपरान्त दाह संस्कार के पहले किसी पेड़–पौधे, पत्थर से विवाह कर दिया जाता है। एक दूसरा तथ्य यूरोप व अमरीका के समाजों में हमारे सामने आया है। इन समाजों में सन्तानोत्पति को परिवार का उद्देश्य नहीं समझा जाता। अब ऐसे दम्पतियों की वृद्धि हो रही है जो यौन संबंध तो रखना चाहते है लेकिन संतान को जन्म नहीं देना चाहते।

(3) **आर्थिक बंधन :** परिवार केवल यौन संबंधों की स्वीकृति से ही नहीं बनते। परिवार के सदस्यों को एक सूत्र में बांधे रखने का काम आर्थिक बंधन करते हैं। लेवी स्ट्राऊस ने तो आग्रहपूर्वक कहा है कि आदिम समाजों का बुनियादी आधार आर्थिक सम्बन्ध होते है।

(4) **दीर्घकालीन समूह :** समाज के अगणित समूहों में परिवार ऐसा समूह है जो प्राथमिक, निश्चित और दीर्घकालीन होता है। इतिहास के प्रत्येक युग में, समाज कैसा भी हो, उसमें समूह अवश्य होते हैं और इधर मनुष्य अपने जन्म से लेकर मृत्यु तक परिवार की सीमा में बंधा रहता है। व्यक्ति के जीवन में कई समूह आते हैं, धीरे–धीरे करके ये समूह चले जाते हैं लेकिन परिवार ही ऐसा समूह है जो इसे कभी छोड़ता नहीं है। यही उसका दीर्घकाल है।

(5) **लालन–पालन** : पशुओं की तुलना में मनुष्यों के संतान की निर्भरता परिवार पर बहुत अधिक होती है। परिवार ही बच्चों का पालन पोषण करता है; उन्हें शिक्षा–दीक्षा देता है और हमारे देश में तो परिवार ही शादी–ब्याह करवाता है और आर्थिक स्वावलम्बन प्रदान करता है।

(6) **परिवार का आकार** : शायद परिवार की बहुत बड़ी विशेषता उसका आकार है। सामान्यतया एक परिवार में पति–पत्नी के अतिरिक्त बच्चे होते है। कभी–कभी इन सदस्यों के अतिरिक्त परिवार में अन्य सदस्य भी होते हैं, ऐसे परिवारों को विस्तारित या संयुक्त परिवार कहते हैं। इन परिवारों में दो से अधिक पीढ़ियां रहती है।

(7) **भावनात्मक आधार** : परिवार के सदस्यों में आर्थिक संबंधों के अतिरिक्त भावनात्मक संबंध भी होते हैं। हमारे यहां आई.पी. देसाई ने सौराष्ट्र के महुआ कस्बे का जो अध्ययन किया है उसमें उसकी एक प्राप्ति यह है कि परिवार के लोग कहीं भी रहें, कुछ भी कमायें, फिर भी ये सब सदस्य भावनात्मक रूप से एक दूसरे से जुड़े रहते हैं।

समाजशास्त्र के साहित्य में परिवार पर बहुत अधिक अनुसंधान कार्य हुआ है। परिवार के ऐतिहासिक और संरचनात्मक पक्ष पर भी बहुत लिखा गया है। ऐतिहासिक पक्ष पर लिखने वाले विचारकों में मार्क्स (1845), मोरगन (1904), एंजिल्स (1884), हॉबहाउस (1905), वेस्टरमार्क (1921) और मेलिनोस्की (1927) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

परिवार के संरचनात्मक पक्ष पर विशद् रूप से लिखने वाले में आगबर्न (1933), जिमरमेन (1935), एवं डेविस (1940) सम्मिलित है। भारत में परिवार की संरचनात्मक और परिवर्तनशील प्रकृति पर लिखने वालों में के.एम. कापड़िया, आई.पी. देसाई, टी.एन. मदन, एम.एन. श्रीनिवास महत्वपूर्ण है।

परिवार की संरचना :

परिवार की उपरोक्त विशेषताओं के आधार पर इसकी संरचना को समझा जा सकता है। मुरडॉक ने अपने 250 समाजों के विशाल निदर्शन में यह पाया है कि केन्द्रीय परिवार सभी समाजों में परिवार की सामान्य संरचना है। इस परिवार की संरचना का प्रमुख आधार एक स्त्री और पुरुष के बीच के संबंध है जो विवाह द्वारा पति–पत्नी के संबंधों में बदल जाते हैं। परिवार की संरचना का दूसरा आधार परिवार के बच्चे हैं। संरचना का एक तीसरा आधार सामान्य निवास स्थान या घर है। इस भांति पति–पत्नी, बच्चे और सामान्य निवास परिवार की संरचना को बनाते है। इन तीन तत्वों से मिलकर साधारणतया केन्द्रीय परिवार की संरचना होती है। यहां यह बात उल्लेखनीय है कि ''परिवार की संरचना का सम्बन्ध आर्थिक व्यवस्था से भी है। आज की नगरीय और औद्योगिक व्यवस्था पर इससे सम्बन्धित व्यवसाय पद्धति ने एकाकी तथा वैयक्तिक परिवार की संरचना को प्रोत्साहित किया है। जनजातीय, कृषक और ग्रामीण अर्थ व्यवस्था में जहां परिवार आज भी उत्पादन की इकाई है – ज्यादातर सम्मिलित, विस्तृत तथा संयुक्त माता–पिता, पति के भाई तथा उनकी पत्नियां तथा बच्चे भी साथ रहते है। भारत की संयुक्त परिवार की प्रणाली इस तरह के परिवार का सर्वोत्तम उदाहरण है। परिवार की सरंचना मात्र इसके समूहगत स्वरूप, जिसमें पति–पत्नी, बच्चे तथा उनके संबंधी रहते हैं, से ही नहीं समझी जा सकती। परिवार एक संस्था के रूप में भावनात्मक सम्बन्धों, सामाजिक मूल्यों, रीति–रिवाजों तथा परम्पराओं से भी मिलकर बनता है। ये तत्व परिववार को स्थायित्व और निरन्तरता प्रदान करते हैं। इस दृष्टि से पारिवारिक संरचना का एक प्रमुख तत्व पारिवारिक, अर्थिक एवं जीवन–यापन के साधन भी है।''

केन्द्रीय परिवार की संरचना :

जिस प्रकार विवावह सर्वत्र पाया जाता है, वैसे ही केन्द्रीय परिवार भी। कई बार केन्द्रीय परिवार अन्य विस्तारित और जटिल परिवारों की संरचना भी करता है। केन्द्रीय परिवार की बहुत बड़ी विशेषता निकटाभिगमन निषेध है। प्रत्येक विवाहित व्यक्ति कम से कम दो केन्द्रीय परिवारों का सदस्य होता है। एक वह जिसमें कि वह जन्मा है, यह उसके जन्म का परिवार यान प्रशिक्षण का परिवावर है। इसी परिवार में उसे जीवन बिताने की शिक्षा–दीक्षा दी जाती है।

व्यक्ति का दूसरा परिवार वह है जिसे वह विवाह के बाद प्रारम्भ करता है, यह उसके स्वयं का परिवार है। इससे प्रजनन का परिवार कहते हैं। दोनों परिवार अर्थात् जनम का परिवार और प्रजनन का परिवार संरचना की दृष्टि से समान होते हैं, फिर भी इनमें अुतर की इस दृष्टि से है कि एक व्यक्ति इनमें से एक परिवार में पुत्र अथवा पुत्री के पद पर होता है और दूसरे में पति अथवा पत्नी के पद पर।

परिवार की सरंचना का दूसरा आधार निवास है। इसमें यह देखा जाता है कि पति, पत्नी कहां निवास करते हैं? ऐसे परिवार होते हैं जिनमें पत्नी, पति के यहां रहती है। इनको पितृस्थानीय परिवार कहते हैं? दूसरे केन्द्रीय परिवार वे होते हैं जिनमें पत्नी अपने पति के यहां रहती है और पति उसके यहां आता जाता रहता है ऐसे परिवार मातृ स्थानीय कहलाते हैं।

केन्द्रीय परिवार वे होते हैं जिनमें पति–पत्नी और उनके प्रजजन की संतान रहती है। सामान्यतया केन्द्रीय परिवार में एक पति और एक पत्नी होती है लेकिन कभी–कभी जॉनसन कहते हैं कि केन्द्रीय परविार में बहुपत्नी विवाह भी होते है।

विस्तारित परिवार की संरचना :

इस परिवार की संरचा थोड़ी जटिल होती है। इसमें जन्म के परिवार और जनन के परिवार के सदस्य सम्मिलित होते हैं। अमेरिका और यूरोप में विस्तारित परिवार नहीं पाये जाते, लेकिन चीन जैसे देश में विस्तारित परिवार अधिक मात्रा में पाये जाते हैं। विस्तारित परिवार में उम्र की दृष्टि से सबसे बड़ा पुरुष ही मुखिया होता है और उसका ज्येष्ठ पुत्र ही उत्तराधिकारी बनता है। सबसे बड़े भाई को विस्तारित परिवार में विशेष आदर दिया जात है। विस्तारित परिवार वस्तुततः संयुक्त परिवार ही है लेकिन भारत में संयुक्त परिवारों का दर्जा विशेष है। अतः हम इसे पृथक संरचना के रूप में रखेंगे।

संयुक्त परिवार की संरचना :

हमारे देश में संयुक्त परिवार, परिवार की एक विशेष संरचना है। आई.पी. देसाई का कहना है कि हमारे यहां परिवार का अर्थ ही संयुक्त परिवार है। यहां तो उपनिवेश काल में अंग्रेजों ने परिवार के आगे संयुक्त लगा दिया। अन्यथा पौराणिक और महाकाव्यों के विवरण में हमें संयुक्त पद का प्रयोग नहीं मिलता। इस देश में तो परिवार विस्तारित या संयुक्त ही रहे है। यह अवश्य है कि औद्योगीकरण, व्यक्तिवाद और नगरीकरण ने संयुक्त परिवारों को विघटित कर दिया है।

संयुक्त परिवार में प्रजनन के परिवार के अतिरिक्त जन्म का परिवार भी सम्मिलित होता है। इसका मतलब हुआ कि इस परिवार में माता–पिता के अतिरिक्त दादा–दादी भी होते हैं। दादा और दादी परिवार के अविवाहित सदस्य और इसी भांति जनन के परिवार में भाई–बहिन मिलाकर संयुक्त परिवार बनाते हैं। ईरावती कर्वे ने संयुक्त परिवार के जो लक्षण बताये हैं, वे इस प्रकार है :

1. एक से अधिक सदस्य
2. एक ही छत के नीचे निवास
3. सामान्य अर्थ व्यवस्था
4. एक ही देवी यानी कुल देवता की पूजा

5. दो से अधिक पीढ़ियाँ।

कहते हैं कि परिवार को एक सूत्र में बांधे रखने का काम सामूहिक सम्पति करती है। आई.पी. देसाई महुआ के क्षेत्रीय कार्य के आधार पर संयुक्त परिवार की विशेषता सामूहिक सम्पति नहीं मानते। वे कहते हैं कि संयुक्त परिवार की संरचना का आधार सामाजिक सम्बन्ध है। ऐसे लोग जो रक्त सम्बन्धी यानि पीढ़ी में आते हैं और एक ही छत के नीचे नहीं रहते, एक ही चूल्हे से नहीं खाते, वे भी संयुक्त परिवार के सदस्य है। वास्तव में कापड़िया, ईरावती, कर्वे और आई.पी. देसाई सभी इस तथ्य से सहमत है कि संयुक्त परिवार में दो या दो से अधिक पीढ़ियां होती है, सामान्य सम्पति होती है और सम्बन्धों की घनिष्ठता और गहनता होती है।

एम.एन. श्रीनिवास ने संयुक्त परिवार की संरचना को अपनी पुस्तक रिलिजन एंड सोसायटी अमांग दी कूर्ग्ज ऑफ साउथ इण्डिया में विस्तृत रूप में रखा है। कूर्ग समाज में संयुकत परिवार को ओक्का कहते हैं। ओक्का के सदस्य जन्म से होते है। यह सदस्य यानी पुत्र सम्बन्धी होते है। पूर्वजों की सम्पति पर ओक्का के पुत्रों का अधिकार होता है। जिस तरह के संयुक्त परिवार को श्रीनिवास ने कूर्ग लोगों में पाया है वह आज तीव्रता से बदल रहा है। वास्तविकता यह है कि सामाजिक परिवर्तन के इस दौर में संयुक्त परिवर्तन के इस दौर में संयुक्त परिवार की संरचना शीघ्रता से बदल रही है।

जब हम विश्लेषणात्मक दृष्टि से केन्द्रीय, विस्तारित और संयुक्त परिवार को देखते है तो कतिपय संरचनात्मक विशेषताएं स्पष्ट हो जाती है। यहां हम संरचना सम्बन्धी परिवार की विशेषताओं का वर्णन करेंगे।

परिवार की संरचना और उसकी विशेषताएँ :

(1) **संरचनात्मक प्रकृति :** परिवार की संरचना उसके लक्षणों द्वारा जानी जाती है। इस दृष्टि से परिवार (1) केन्द्रीय, (2) विस्तारित और (3) संयुक्त हो सकते है।

(2) **सदस्यता :** संरचना का मुख्य आधार परिवार के सदस्य होते हैं। ये सदस्य प्रजनन के परिवार के हो सकते हैं लेकिन यदि परिवार की संरचना निस्तारित या संयुक्त है तो इसकी सदस्यता में जन्म का परिवार यानी दादा, दादी आदि भी जुड़ जाते हैं।

(3) **विवाह प्रणाली :** संरचना के अन्तर्गत विवाह की पद्धति भी आ जाती है। परिवार एक साथीय विवाही, बहुपत्निक विवाही और बहुपतिक विवाही हो सकते हैं। दूसरे शब्दों में, विवाह की दृष्टि से परिवार में (1) एक पत्नी हो सकती है, (2) दो या अधिक पत्नियां हो सकती है, और (3) एक से अधिक पति हो सकते हैं। संरचना का यह आधार विवाह की प्रणाली पर निर्भर करता है।

(4) **उत्पत्ति और वंशक्रम :** परिवर पितृ सत्तात्मक होते हैं और मातृ सत्तात्मक भी। जिन परिवारों में वंशक्रम पिता के नाम से चलता है, पितृ सत्तात्मक कहलाते हैं : और जिनमें वंशक्रम माता के नाम से चलता है मातृ–सत्तात्मक कहलाते हैं।

(5) **आर्थिक बंधन और भूमिकाओं का विभिन्नीकरण :** परिवार के सदस्य अपनी–अपनी भूमिकाओं को निभाते हैं। परिवार में एक प्रकार का श्रम विभाजन होता है। माँ घर का काम काज करती हैं या आज के समाज में आर्थिक उपार्जन करती है। पिता उपार्जन के अतिरिक्त घर के बाहर कामों की देख–रेख करता है। बच्चों का काम पढ़ना–लिखना होता है।

(6) **सम्पत्ति :** प्रत्येक परिवार में चल–अचल सम्पत्ति होती है। परिवार का मुखिया इस सम्पत्ति का एक संरक्षक होता है। विभाजन होने पर परम्परा के अनुसार चल–अचल सम्पत्ति बांट दी जाती है।

(7) **पारिवारिक व्यवसाय** : सामान्यतया विकासशील देशों में समाजों में परिवार के सदस्य अपेन पुश्तैनी या पीढ़ी दर पीढ़ी चले आने वाले धंधों को करते हैं। आज जिस गति से परिवर्तन हो रहा है उसमें पारिवारिक व्यवसाय में बहुत अधिक परिवर्तन आ गया है।

(8) **सामान्य नाम व पदवी** : प्रत्येक परिवार की अपनी एक विशेष पहचान होती है। इस पहचान के पीछे कोई न कोई ऐतिहासिक पृष्ठभूमि अवश्य होती है। इस नाम या पदवी को कभी–कभी घराना भी कहते हैं।

(9) **अधिकार** : परिवार में परम्परागत अधिकार होता है। यह अधिकार ही है जो परिवार के सदस्यों को अनुशासित करता है। इस अधिकार के माध्यम से सदस्यों की शिक्षा–दीक्षा, सम्पत्ति का बंटवारा और शादी–ब्याह निश्चित किया जाते हैं। समाान्यतया परिवार का मुखिया ही इस अधिकार को अपने पास केन्द्रित रखता है।

परिवार के कार्य :

परिवार के प्रकार्य की परिवार की संरचना पर निर्भर करते हैं और इसी तरह स्वयं समाज की प्रकृति भी परिवार के प्रकार्यों को निर्धारित करती है। आदिम समाज में परिवार के जो प्रकार्या होते हैं वे निश्चित रूप से औद्योगिक समाज के परिवारों से भिन्न होते हैं। आदिम समाज के परिवार में श्रम विभाजन बहुत थोड़ा होता है। स्त्रियां भी आदमियों की तरह खेत–खलिहान में काम करती है। पुरुष और स्त्री के कार्यों का विभाजन भी अधिक वृहद नहीं होता। पुरुषों की भूमिकाओं को स्त्रियां कर लेती है और स्त्रियों की भूमिकाओं को पुरुष।

कई समाजशास्त्रियों का कहना है कि औद्योगिक समाज में परिवार के प्रकार्य शींधता से समाप्त हो रहे है। अब उत्पादन, शिक्षा, लोक कल्याण, आदि कार्य जो परिवार करता था औपचारिक संगठन करने लग गये हैं। टेलकट पारसंस का तर्क है कि आज समाज स्तरीय

बड़े–बड़े कार्य सरकार करने लग गये है या संगठन और इस भांति परिवार अपेन अधिकांश कार्यों से मुक्त हो गये है। लेकिन इसका तात्पर्य नहीं है कि परिवार का महत्व कम हो रहा है। वास्तविकता तो यह है कि परिवार भी अपने कार्यों में विशिष्ट हो गया है। इसका बहुत बड़ा कार्य तो परिवार के सदस्यों के व्यक्तित्व का निर्माण करना है। यह परिवार ही है जो अपने सदस्यों को बाहरी दुनिया की चुनौतियों का मुकाबला करने के लिए मनोवैज्ञानिक रूप से तैयार करता है। इस संदर्भ में पारसंस लिखते हैं :

पहले की अपेक्षा आज परिवार अधिक विशिष्ट हो गया है; लेकिन किसी भी तरह से इसका महत्व कम नहीं हुआ है। इसका कारण यह है कि अपने कतिपय कार्यों के लिए आज भी परिवार स्वतन्त्र है। इस भांति यद्यपि परिवार के कुछ कार्य उसके हाथ से निकल गये है, फिर भी शेष कार्यों के क्षेत्र में वह महत्वपूर्ण हो गया है।

पारसंस की तरह डेनिस का भी तर्क है कि दफ्तरशाही एजेन्सियों ने आज परिवार के कई कार्य अपने हाथों में ले लिये हैं। फिर भी निश्चित रूप से कुछ कार्य ऐसे है जिन्हें परिवार ही कर सकता है। कोई भी औपचारिक संगठ्न बच्चों का प्रजनन नहीं कर सकता। यह कार्य तो परिवार का ही है। इसी भांति बच्चों का समाजीकरण भी परिवार ही करता है।

मुरडॉक ने जिन 250 समाजों के परिवार का अध्ययन किया है उनके अनुसार अब भी परिवार (1) यौनगत, (2) प्रजननात्मक, (3) आर्थिक, और (4) शैक्षणिक कार्य करते है। मुरडॉक का निदर्शन बहुत विशाल था जिसमें सभी प्रकार के समाजों का प्रतिनिधित्व हो जाता था। परिवार के ये चार कार्यविधि की दृष्टि से इसी कारण महत्वपूर्ण है।

गुडे ने परिवार के जिन कार्यों का उल्लेख किया है उनमें (1) बच्चों का प्रजनन, (2) पारिवारिक सदस्यों का भौतिक अनुरक्षण; (3) बच्चों एवं व्यस्कों के सामाजिक स्थान का निर्धारण; (4) समाजीकरण एवं भावनात्मक सहारा; और (5) सामाजिक नियंत्रण सम्मिलित है।

सत्यमित्र दुबे और दिनेश शर्मा ने परिवार के निम्नलिखित प्रकार्यों को समाज के लिए महत्वपूर्ण समझा है :

(1) **जैवकीय** : परिवार का बहुत महत्वपूर्ण कार्य यौन संतुष्टि देना है। मनुष्य में यौन की जो भूख होती है वह परिवार में पति–पत्नी की हैसयित से पूरी होती है। यह सही है कि बिना परिवार बनाये भी यौन संतुष्टि हो सकती है लेकिन इस आवश्यकता की पूर्ति को सामजिक स्वीकृति समाज ही देता है। जैवकीय कार्यों के अन्तर्गत ही हम बच्चों का प्रजनन सम्मिलित करते हैं। प्रजनन द्वारा ही मानव जाति की एक पीढ़ी को दूसरी पीढ़ी तक गुजरते हुए जीवित रहती है। प्रजनन के साथ मनुष्य की अनेक मनोवृत्तियां हुड़ी हैं जिनमें संतान के रूप में वंशज का संतोष प्रमुख है। उसके द्वारा व्यक्ति सम्पत्ति के लिए उत्तराधिकारी प्राप्त करता है तथा वंशज के रूप में अपनी स्मृति और धरोहर की रक्षा करता है। परिवार का तीसरा जैवकीय कार्य प्रजजन द्वारा मानव जाति के अस्तित्व की रक्षा है।

(2) **सामाजिक** : परिवार के कुछ सामाजिक प्रकार्य भी हैं। यह बच्चों का पालन पोषण करता है और उनके समाजीकरण में सहायता देता है। बच्चे परिवार के बीच में ही विकसित होते हैं। वे परिवार में ही भाषा, रीति–रिवाज, परम्परा तथा आचार को सीखते हैं। परिवार का महत्वपूर्ण योगदान इसके सदस्यों के समाजीकरण तथा उनके व्यवहारों के नियमन एवं सामाजिक नियंत्रण में है।

(3) **मनोवैज्ञानिक** : परिवार अपने सदस्यों की मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की भी पूर्ति करता है। यह परिवार ही है जिसमें व्यक्तियों को साहचर्य, प्रेम, सहानुभूति और मानसिक संबल प्राप्त होता है।

(4) **आर्थिक** : परिवार का सबसे बड़ा आधार आर्थिक है। कृषि प्रधान समाजों में तो परिवार ही उत्पादन की इकाई होती है। पारिवारिक व्यवस्था जैसे कृषि, दस्तकारी, गृह

उद्योग, पशुपालन, शिकार आदि कार्यों में परिवार के सभी सदस्य समान रूप से योग देते हैं।

4.2.2 विवाह– एक परिचय :

विवाह के रूप में उतने ही जुदा होते है जितने की परिवार के। वैवाहिक रीति–रिवाजों की विभिन्नता, परिवार की केन्द्रीय संरचनाओं को प्रभावित नहीं करती। दूसरी ओर केन्द्रीय परिवार और संयुक्त परिवार में जो अंतर होते हैं वे विवाह की संस्था को प्रभावित करते हैं। बोटोमोर का कहना है सामान्यतया जिन समाजों में संयुक्त या विस्तारित परिवार होते हैं, उनमें बहु विवाह होने की संभावना अधिक है। उन परिवारों में विवाह के अन्तर्गत आर्थिक लेन–देन भी होता है और विवाह विच्छेद की संभावना कम हो जाती है, दूसरी ओर जहां केन्द्रीय परिवार सापेक्षिक रूप से स्वतंत्र होता है, वहां एक पति–पत्नी विवाह की संभावना बराबर बनी रहती है। ऐसे विवाह में, बोटोमोर कहते है कि आर्थिक लेन देन कम होता है और विवाह विच्छेद की दर अधिक हो सकती है।

यह अवश्य है कि विवाह में कई रीति–रिवाज समान होते हैं। मुरडॉक के संदर्भ में बोटोमोर कहते हैं कि एक पति–पत्नी विवाह लगभग सभी समाजों में पाया जाता है। यह इसलिए होता है कि इस विवाह में लैंगिग साथी समान अनुपात में होते हैं। बहु पति प्रथा–एक पत्नी के दो या अधिक पति का अपवाद रूप में मिलता है। मुरडॉक तो इसे नृ–जातीय उत्सुकता कहते हैं। ऐसे विवाह की एक विशेषता यह है कि इसमें बालिका हत्या अधिक होती है। हमारे देश में दक्षिण भारत में जहां टोडा आदिवासी पाये जाते है बहुपति विवाह मिलता है। इस प्रथा का मुख्य कारण पुरुषों की तुलना में स्त्रियों का अनुपात कम होता है। बहुपति की तरह बहुपत्नी विवाह भी एक ऐसा स्वरूप हैं जो थोड़े बहुत रूप में सभी समाजों में पाया जाता है।

विवाह की परिभाषा :

समाजशास्त्रियों ने, और विशेष करके सामाजिक मानवशास्त्रियों ने विवाह की संस्था पर पर्याप्त कार्य किया है। जहां हम विवाह की कतिपय परिभाषाएं देंगे।

हेरी.एम. जॉनसन :

यह एक स्थिर सम्बन्ध है जिसकी अनुमति, समुदाय के मध्य अपनी स्थिति को खोये बिना, पुरुष तथा स्त्री को समाज प्रदान करता है। इस तरह के स्थिर सम्बन्ध की दो और शर्तें है : यौन संतुष्टि तथा बच्चों का प्रजजन।

जी.पी. मुरडॉक :

एक साथ रहते हुए नियमित यौन सम्बन्ध और आर्थिक सहयोग रखने को विवाह कहते हैं। इस तरह विवाह के मूलभूत तत्व है : स्त्री तथा पुरुष के बीच में समाज द्वारा अनुमोदित पति–पत्नी के रूप में नियमित यौन सम्बन्ध, उनका एक साथ रहना, बच्चों का प्रजनन, और आर्थिक सहयोग।

बोगारडस :

विवाह स्त्री और पुरुष के पारिवारिक जीवन में प्रवेश करने की एक संस्था है। वास्तव में विवाह की परिभाषा समाज के संदर्भ में की जाती है। उदाहरण के लिए यूरोप और अमेरिका के समाजों में विवाह को सापेक्षिक रूप में कम स्थायी समझते हैं। इन समाजों में विवाह करना आवश्यक हो, ऐसा भी कुछ नहीं है। जैसा कि हमने इस अध्याय के प्रारंभ में कहा समाज में विवाह नहीं करना अपवाद समझा जाता है। भारत और इसके आसपास के देशों में विवाह लगभग स्थायी होता है। यह तो पिछले जन्म में ही तय हो जाता है। कापड़ियां ने हिन्दु विवाह को दो टूक शब्दों में पारिभाषित किया हैः

हिन्दू विवाह एक संस्कार है, धार्मिक कृत्य है।

ब्राह्मणों, महाकाव्यों और पुराणों में यह आग्रहपूर्वक कहा गया है कि हिन्दुओं में विवाह एक धार्मिक क्रिया है और सामान्यतया अविभाज्य है। हिन्दू जातियां विवाह को धार्मिक इसलिए समझती है कि इसका उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति होता है। इसके बाद दूसरा महत्वपूर्ण उद्देश्य सन्तानोत्पति है। सन्तान के बिना पीढ़िया नहीं चलती। यह सब विवरण देने से हमारा तात्पर्य यही बताना है कि विवाह की परिभाषा सर्वसम्मत रूप में नहीं दी जा सकती। इसे पारिभाषित करने के लिए किसी निश्चित समाज का संदर्भ अवश्य देना होता है।

जब हम विवाह को पारिभाषित करते हैं तब हमें एक ओर बात कहनी हैं। जहां विवाह का सम्बन्ध समाज से होता है, वहीं विवाह परिवार से भी जुड़ा हुआ है। यह बहुत रुचिकर होगा कि हम यहां विवाह और परिवार के सम्बन्धों की चर्चा करें।

विवाह के प्रकार :

विवाह के प्रकारों को हम पति और पत्नी की संख्या के आधार पर निश्चित करते हैं। सामान्यतया दुनियाभर के समाजों में विवाह के दो प्रकार प्रचलित हैं :

(1) एक विवाह और

(2) बहु विवाह

बहुविवाह के दो भेद हैं : (1) बहुपति विवाह, और (2) बहुपत्नी विववाह, हम इन दो विवाहों का यहां संक्षेप में विवरण देंगे।

(1) **एक विवाह :** एक विवाह से तात्पर्य है, एक समय में एक व्यक्ति एक ही स्त्री के विवाह करता है। इसके अन्तर्गत वे विवाह भी आते हैं जिनमें एक पत्नी की मृत्यु हो जाने के बाद या विवाह विच्छेद की स्थिति में दूसरी स्त्री से विवाह किया जाता है। एक विवाह

या बहुविवाह का सम्बन्ध व्यक्ति से न होकर समाज से होता है। इसका तात्पर्य यह है कि समाज ही एक विवाही या बहुविवाही होता है। इस सम्बन्ध में लूसी मेयर का कहना है :

एक विवाही और बहु विवाही शब्द विवाह या समाज के लिए प्रयुक्त होते हैं, व्यक्तियों के लिए नहीं। निष्ठाहीन पति या कामाचारी व्यक्ति को बहु विवाही कहना भाषा के साथ खिलवाड़ करना है, यद्यपि कुछ लोग ऐसा करते हैं।

जहां स्त्री और पुरुष की संख्या में लगभग समान अनुपात होता है एक विवाह प्रचलित होता है। यद्यपि ऐसा हमेशा होना आवश्यक नहीं है। उद्विकासवादियों ने एक विवाह को परिवार एवं विवाह से उद्विकास का अंतिम चरण माना है। आज के समाज में विवाह के विभिन्न भेदों में एक विवाह को सर्वोच्च प्रतिमान के रूप में प्रतिष्ठित किया है। एशिया और अफ्रीका में भी सामान्यतया बहुसंख्यक लोगों में एक विवाह की प्रथा प्रचलित है।

(2) **बहुविवाह : बहुपति विवाह :** इस विवाह में एक ही समय में एक स्त्री एक से अधिक पुरुषां से विवाह करती है। कई बार हमारे यहां इसे बहुपति विवाह भी कहते हैं। रिवर्ज ने जो ब्रिटिश मानवशास्त्री थे, दक्षिण भारत के टोडाओं में काम किया था। वे बहुपति प्रथा को जो टोडाओं में आज भी प्रचलित है, इस भांति पारिभाषित करते हैं :

एक स्त्री का कई पतियों के साथ विवाह सम्बन्ध बहुपति विवाह कहलाता है।

सामाजिक मानवशास्त्र में मैक्लैनन पहले विद्वान है जिन्होंने बहुपति विवाह की जानकारी दी थी। आज भी कई समाजों में बहुपति विवाह मिलते हैं। उत्तरी अमेरिका की अलस्कान, एस्किमों, अमेरीकन–इण्डियन, मलाया आदि में बहुपति प्रथा मिलती है। भारत में देहरादून, जोनसर बावर परगना तथा शिमला की पहाड़ियों, टिहरी गढ़वाल में रहने वाले खस राजपूतों, नीलगिरी की पहाड़ियों में निवास करने वाले टोडा और मालाबार के नायरों में बहुपति प्रथा प्रचलित है।

बहुपति प्रथा के प्रचलन के अनेक कारण है। वेस्टरमार्क का मत है कि बहुपति प्रथा का मुख्य कारण पुरुष व स्त्री के अनुपात में असंतुलन होना है। कई बार असंतुलन के ठीक होने पर भी विवाह का यह विशेष प्रकार का रूप ले लेता है।

बहुविवाह : बहुपत्नि विवाह : जब एक ही समय में एक पुरुष एक से अधिक स्त्रियों से विवाह करता है तो इसे बहुपत्नी विवाह कहते हैं। पिछले दिनों में हमारे देश में राजा–महाराजा एक ही समय में कई स्त्रियों से विवाह करते थे। राजा दशरथ की तीन रानियां थी। मुसलमानों में तो एक व्यक्ति एक ही समय में अधिकतम चार स्त्रियों से विवाह कर सकता है। जहां ये बेंगमे निवास करती है उस स्थान को हरम कहते हैं। जहां रानियां निवास करती थी उसे रनिवास कहते थे।

आज दुनियाभर में बहुपत्नी विवाह समाप्ति के हाशिये पर आ गया है। भारत के आदिवासी जिसमें यह प्रथा सामान्य बात थी, उनमें भी इसका लोप होने लगा है। देखा जाये तो दुनियाभर में थोड़े बहुत अपवाद को छोड़कर एक विवाह सामान्य स्टेण्डर्ड है।

विवाह के नियम :

विवाह का कोई भी प्रकार हो, इसके कुछ नियम होते हैं जिनका पालन करना होता है। सभी समाजों में सामान्यता विवाह के दो नियम पाये जाते हैं : (1) अन्तर्विवाह और (2) बहिर्विवाह।

(1) **अन्तर्विवाह :** इस विवाह में एक जाति, जनजाति, समूह अथवा समुदाय के सदस्य ही समूह में विवाह करते हैं। ब्राह्मण, ब्राह्मणों में विवाह करेगा और संथाल, संथाल जनजाति में। इसी कारण जाति की पहचान अन्तर्विवाह है। कई बार विशेष जाति या जनजाति को अर्न्तवैवाहिकी भी कहते है। अन्तर्विवाह के पीछे सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक समूह अपने समूह की पहचान बनाये रखना चाहता है, उसकी शुद्धता को अखण्ड करना चाहता है।

अन्तर्विवाह के कारण समूह की सांस्कृतिक और एथिनक विशेषता बनी रहती है। यह सिद्धान्त समूह की उच्चता और निम्नता की भावना को विकसित करके सामाजिक गैर–बराबरी को बनाये रखता है। हमारे देश में अन्तर्विवाह भावना के कारण ही कई शताब्छियों तक दलित, दलित ही बने रहे। यूरोप और अमेरीका में काले लोगों की पद दलित स्थिति बहुत बड़ी सीमा आज भी विवाह के इसी नियम के कारण बनी हुई है।

(2) **बहुर्विवाह** : विवाह का यह नियम अन्तर्विवाह के एकदम विपरीत होता है। यह होते हुए भी ये दोनों नियम एक साथ प्रजाति और जाति पर लागू होते हैं। जाति व्यवस्था के अन्तर्गत एक जाति के सदस्यों से अपेक्षा की जाती है। कि वे अपनी ही जाति के अन्तर्गत विवाह करें लेकिन इसके साथ ही साथ उनसे बहिर्विवाह की भी अपेक्षा की जाती है कि वे अपने निकट सम्बन्धियों, एक ही रक्त सम्बन्धियों, अपने गोत्र, पिण्ड तथा प्रवर के बीच में विवाह न करें। ऐसी प्रथा जनजातियों कृषकों तथा औद्योगिक समाजों में समान रूप से विद्यमान है। भारत की जनजातियों में तो ग्राम बहिर्विवाह का नियम भी सख्ती से लागू होता है। इस नियम के अनुसार यह आदिवासी अपने गांव से अपने जीवन साथी का वरण नहीं करता। एक बार वेस्टर मार्क ने अपने नाई से पूछा, ''तुम्हारी उम्र बहुत हो गयी है, तुम विवाह क्यों नहीं कर लेतें? तुम्हारें गांव में तो लड़कियों की कोई कमी नहीं है।'' इसके उत्तर में नाई ने तपाक से कहा : ''इस गांव की लड़कियां? मैं इन सबको जानता हूँ। वे एकदम निकम्मी है।'' वेस्टरमार्क ने एक आनुभविक दृष्टान्त का प्रमाण भी दिया है। उन्होंने बताया कि लंदन की एक सड़क के दोनों तरफ लड़के–लड़कियों के हाई स्कूल थे। दोनों में सहशिक्षा थी। रुचिकर बात यह थी कि एक स्कूल के लड़के अपनी स्कूल लड़कियों को छोड़कर सामने वाले स्कूल की लड़कियों से प्रेम करते थे। उनके स्वयं के स्कूल में तो लड़कियां थी, वे उनसे प्रेम क्यों नहीं करते? लड़कों का जबाव था : ''हमारे स्कूल की लड़कियां? वे निकम्मी है।''

तथ्य यह है कि गांव बहिर्विवाह के नियम के पीछे महत्वपूर्ण बात यह है कि आदमी हमेशा अपने को बहादुर और पुरुषार्थी समझता है। दूसरे गांव की लड़की लाना उसकी बहादुरी है। इसके अतिरिक्त दूसरे गांव की लड़की के प्रति या लड़के के प्रति बड़ी उत्सुकता भी होती है।

विवाह के उपरोक्त दो नियम सभी समाजों में देखने को मिलते है। इनके अतिरिक्त विवाह करते समय दुनियाभर के समाजों में यह कोशिश की जाती है कि अपने से ऊंची स्थिति के लोगों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किये जाये। समाजशास्त्र में इस तरह की विवाह पद्धति को कुलीन विवाह की संज्ञा दी जाती है। कुलीन विवाह की पद्धति जातियों, जनजातियों और प्रजातियों में बराबर देखने मिलती है। विशेष रूप से यह सिद्धान्त लड़की के विवाह के लिए ही व्यवहार में लाया जाता है। बंगाल की उच्च हिन्दु जातियों में कुलीन विवाह की प्रथा कभी प्रचलित थी। कम उम्र की लड़कियों का विवाह कुलीन विवाह की परम्परा के अनुसार वृद्ध लोगों के साथ कर दिया जाता है।

विवाह और परिवार में परिर्वतन :

ऊपरा हमने देखा कि विवाह व्यवस्था के दो बुनियादी सिद्धांत है : (1) अन्तर्विवाह और (2) बहिर्विवाह। अपनी जाति या प्रजाति में विवाह करना अन्तर्विवाह है और अपने गोत्र, पिण्ड या गांव के बाहर विवाह करना बहिर्विवाह है। इन दो सिद्धान्तों में जब परिवर्तन आता है तो यह विवाह में परिवर्तन है। हाल के सामाजिक परिवर्तन और विशेषकर के प्रजातंत्र और आधुनिकता के संदर्भ में विवाह की बुनियादी संरचनाओं में परिवर्तन आया है। हमारे देश में तो आजादी की लड़ाई के दौरान यह जागृति आयी है कि हमें जाति और साम्प्रदायिकता की सीमा से बाहर आकर एक भारतीय की तरह अपनी पहचान बनानी चाहिए। इस तरह की चेतना ने अन्तर्जातीय विवहों को प्रोत्साहित किया। धर्म की दीवारों को भी लाँघा गया और

मुसलामानों में विवाह होने लगे। स्वयं मोहम्मद अली जिन्ना एक पारसी लड़की से विवाह किया। हिन्दु और मुसलमानों में भी इस तरह के विवाह हुए जिसे हम अन्तर्जातीय विवाह करते हैं। वह भी विवाह के नियमों का उल्लंघन है। यह अवश्य है कि अब भी निकटाभिगमन पर प्रतिबंध है लेकिन यह एक सामान्य प्रवृत्ति बन गयी है कि लोग अपनी जाति से बाहर विवाह नहीं करते।

विवाह और तलाक :

विवाह की संस्था से जुड़ी हुई जब हम यूरोप और अमेरीका की स्थिति को देखते है तो लगता है कि पश्मिी समाज में विवाह एक समस्या बन गयी है। अमेरिका में तलाक की दर ऊँची दिखायी जाती है। वास्तव में यूरोप और अमेरीका ऊँचे दर्जे के औद्योगिक और पूंजीवादी राष्ट्र है। यहां व्यक्तिवाद अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया है। इस वैचारिक बदलाव के अतिरिक्त इन देशों ने दो बहुत विश्वयुद्ध देखे हैं। इन कारकों के कारण इन देशों में तलाब की दर बढ़ गया है।

हाल में इन पश्चिमी देशों में विवाह का जो साहित्य मिल रहा है, उसके अनुसार यहां विवाहि अस्थिरता बढ़ गयी है। हेरी एम.जॉनसन ने बढ़ती हुई तलाक की दर के कारणों पर विचार किया है। तलाक के कई कारण है। मुख्य कारकों में धार्मिक असहिष्णुता, औद्योगिक में वृद्धि, नगरीकरण, जन्म नियंत्रण की सुविधाएं, बढ़ती भौगोलिक सामाजिक गतिशीलता और जनसंख्या की विभिन्नता मुख्य है।

हमारे देश में और विशेषकर हिन्दु जातियों में विवाह की अवधारणा का विशिष्ट अर्थ लिया जाता है। हमारे यहां सिद्धान्त रूप में विवाह अविभाज्य है। इसमें तलाक की कोई गुजांइश नहीं है। विवाह के इस धार्मिक चरित्र के होते हुए भी अपवाद रूप में यह सुविधा अवश्य है कि किन्हीं अपरिहार्य कारणों से हिन्दु जातियों में भी विवाह विच्छेद हो सकता है।

पति का पागल होना, कहीं उसका अता-पता न लगना या गुमनाम हो जाना, किसी ऐसी बीमारी से पीड़ित होना जो लाइलाज है, विवाह विच्छेद का कारण बन सकता है। इस प्रावधान के होते हुए भी व्यवाहारिक जीवन में कम से कम ऊँची जातियों में विवाह विच्छेद नहीं होता। यह अवश्य है कि निम्न जातियों में विवाह विच्छेद की संभावना अधिक रहती है। हाल में संस्कृतिकरण की सामाजिक परिवर्तन की जो प्रवृत्ति चल रही है, उसके अन्तर्गत निम्न स्तर की जातियों में भी विवाह विच्छेद बहुत काम होने लगा है। जिन जातियों में विवाह विच्छेद का रिवाज है सामान्यतया सांस्कृतिक स्तर पर उनका दर्जा निम्न हो जाता है। हिन्दु विवाह अधिनियम 1955 ने विवाह विच्छेद की स्वीकृति का प्रावधान रखा है।

4.2.3 नातेदारी- एक परिचय :

परिवार, विवावह और नातेदारी एक दूसरे से जुड़े हैं। आदिवासी समाजों में काफी हद तक आज भी न केवल परिवार तथा विवाह, बल्कि सम्पत्ति की अवधारणा, भूमि का स्वामित्व उत्पादन की पद्धति तथा उसका उपयोग राजनीतिक शक्ति तथा प्रभाव आदि नातेदारी पर निर्भर करते हैं। वास्तव में आदिम समाज ही क्यों? औद्योगिक समजों में भी व्यक्ति की पहचान उसके परिवार और नातेदारी से होती है। अपने नातेदारों के साथ हमारा जो व्यवहार होता है वह दूसरों के साथ नहीं होता। प्रत्येक व्यक्ति वह चाहे कैसी भी स्थिति में हो, हमेशा अपेन नातेदारों का आभारी होता है। भाई-भतीजावाद, नातेदारी का ही विकृति स्वरूप है। ईवांस प्रिट्चार्ड जिसने अफ्रीका की नूएर जनजाति में कार्य किया है, नातेदारी व्यवहार की व्याख्या में लिखते हैं :

यदि आप नुएर जनजाति में रहना चाहते हैं तो आपको वह सब कुछ करना पड़ैगा जिसे यह जनजाति चाहती है। इसका अर्थ यह हुआ है कि आपको नुएर व्यक्तियों को नातेदार समझना पड़ेगा और तब वे भी आपको एक प्रकार का स्वजन समझेंगे। इन

जनजाति में या तो एक व्यक्ति नातेदार है, वास्तव में या आख्यान में, या वह एक ऐसा व्यक्ति है जिसके साथ आपके कोई पारस्परिक सम्बन्ध नहीं हैं और उसे आप एक सशक्त शत्रु समझते हैं।

नातेदारी का अर्थ :

नातेदारी शब्द के कई अर्थ है। वास्तव में इस शब्द की जटिलता इतनी अधिक है कि इसके किसी भी अध्ययन में हमें सर्वप्रथम इसका अर्थ स्पष्ट कर लेना चाहिए। नातेदारी का एक अर्थ जैविक है, दूसरा अर्थ व्यवहार संबंधी है और तीसरा भाषा संबंधी। यह बहुत आवश्यक है कि हम नातेदारी के इन तीनों संदर्भों को एक दूसरे से पृथक रखें।

संक्षेप में यह कह सकते हैं कि जो लोग आनुवंशिकता और जैविकता द्वारा बंधे हुए हैं स्वजन या नातेदार है। इस तरह से नातेदारी व्यवस्था जैविक जाल का एक स्वरूप है। इस जाल में व्यक्ति एक गांव की तरह है जो वाहकाणुओं को दूसरों से ग्रहण करता है और इनकों दूसरों को प्रदान करता है। जैविक संबंधों को लेकर मनुष्यों में दो प्रकार के सम्बन्ध हो सकते हैं। सम्बन्धों का एक प्रकार वंशज से सम्बद्ध है और दूसरा यौन सम्बन्धों से जुड़ा हुआ है। इस भांति जैविक अर्थ में सभी नातेदार या तो वंशज है या यौन संबंधों से जुड़े हुए है दत्तक व्यवस्था एक प्रकार से समाज द्वारा स्वीकृत विधि है जो जैविक सम्बन्धों का स्थान ग्रहण करती है। सामान्य शब्दों में हमारे नातेदार दो तरह के हो सकते हैं एक तो वे, जो हमसे रक्त द्वारा जुड़े हुए होते हैं। इन्हें हम सम्बन्धी नातेदार कहते हैं। दूसरे प्रकार के नातेदार विवाह से जुड़े होते हैं। इन्हें हम विवाह सम्बन्धी नातेदार कहते हैं।

नातेदारी व्यवस्था पर मानवशास्त्रियों ने बहुत अधिक काम किया है। उनका क्षेत्रीय कार्य आदिवासियों में हुआ है। प्रमुख मानवशास्त्रियों में मुरडॉक, लेवी, स्ट्राऊस, रेडक्लिफ, ब्रापन, रॉबिन फोक्स, ईवान्स, प्रिट्चार्ड आदि उल्लेखनीय है। मानवशास्त्रियों में हमारे देश में

ईरावती कर्वे के अध्ययनों का बहुत बड़ा योगदान है। यदि हम मानवशास्त्रियों की तुलना में समाजशास्त्रियों का नातेदारी क्षेत्र में योगदान की चर्चा करें तो कहना पड़ेगा कि इन्होंने इसमें बहुत कम काम किया है। इसका बहुत बड़ा कारण यह है कि समाजशास्त्रियों पर ध्यान विशेष रूप से औद्योगिक नगरीय समाज और इससे संबंधित संस्थाओं के अध्ययन पर केन्द्रित रहा है। औद्योगिक नगरीय संरचना में नातेदारी और इससे जुड़े हुए सामाजिक सम्बन्धों का प्रभाव काफी कमजोर होता गया है। इसी कारण समाजशास्त्रियां का ध्यान भी इसी तरफ कम रहा है। इस प्रसंग में यह बात याद रखने की है आज भी नातेदारी व्यवस्था का, जनजातीय और ग्रामीण सामाजिक संरचना में विशेष महत्व है।

नातेदारी के संरचनात्मक सिद्धांत :

नातेदारी के सिद्धांत का सर्वप्रथम प्रारंभ मोरगन से है। मोरगन से लेकर लेवी स्ट्राऊस तक नातेदारी के अध्ययन की विधियों और उसके सैद्धान्तिक कोष में पिछली एक सदी में क्रांतिकारी परिवर्तन आया है। मोरगन ने नातेदारों के वर्गीकरण के लिए सर्वप्रथम वर्गात्मक नातेदारी व्यवस्था को रखा। इस सिद्धात पर टीका करते हुए लेजली व्हाइट ने लिखा है :

रिश्तेदारों को मानने के रीजि–रिवाज इस बात को कहते हैं कि नातेदारी का वैज्ञानिक महत्व है

नातेदारी के अध्ययन की कई विधियां है। फ्रायड और उनके सम्प्रदाय के लेखकों ने इस विधि का अध्ययन मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और उद्‌गम द्वारा किया है। इसके अतिरिक्त नातेदारी अध्ययन की जो संरचनात्मक विधियां हैं उन्हें दो भागों में रखा जा सकता है। पहली विधि में यह अध्ययन ऐतिहासिक विधि या विश्लेषणात्मक विधि द्वारा किया जाता है। दूसरी विधि, प्रकार्यात्मक संरचनात्मक है। इन दोनों विधियों का प्रयोग मोरगन से लेकर आज तक बराबर हुआ है।

वंशानुक्रम और नातेदारी :

समाज में कई संस्थाएं होती है। नातेदारी भी एक संस्था है। इस संस्था में व्यक्ति का स्थान, उसके अधिकार, और कर्त्तव्य, सम्पत्ति पर उसका दावा, ये सब बातें इस तथ्य पर निर्भर है कि वंशावलिक सम्बन्धों के जाल में व्यक्ति का क्या स्थान है? मनुष्य के प्राथमिक सम्बन्ध उसके नातेदारी के सम्बन्ध ही है और नातेदारी सम्बन्धों का बहुत बड़ा आधार उसकी वंशानुक्रम समूह की सदस्यता है। नातेदारी और वंशानुक्रम एक ही नहीं है। एक अर्थ में वे सब लोग सगे–सम्बन्धी है जिनका समान रक्त है। अर्थ हुआ : एक ही पूर्वज की संतान जिसकी नसों में एक ही पिता का रक्त बहता है, रक्त संबंधी नातेदार है। रक्त सम्बन्धी नातेदार केवल जैविक आधार पर ही गिने जाते हैं। जैसा कि रिवर्स ने कहा है कि नातेदारी व्यवस्था जैविक बंधन की एक सामाजिक मान्यता है। बाद के लेखक नातेदारी के अर्थ को इतना खींच कर ले गये कि नातेदारी संबंध केवल सामाजिक मान्यता मात्र ही रह गया और इसका जैविक सम्बन्धों से कोई वास्ता नहीं रहा। शायद नातेदारी का ऐसा अर्थ अनुचित है। रिवर्स की परिभाषा को थोड़ा अभिव्यक्ति जैविक मुहावरें में होती है। यह अवश्य देखा जाता है कि कभी–कभी जैविक संबंधों के नहीं होने पर भी कुछ व्यक्तियों को नातेदार गिना जाता है। इसका उदाहरण दत्तक पुत्र है लेकिन इस तरह के नातेदारों की संख्या बहुत सीमित होती है।

नातेदारी के बंधन एक व्यक्ति को भूमि में हिस्सेदारी, परिवार की सम्पत्ति में सांझेदारी और पारस्परिक सहयोग का अधिकार देते हैं। साधारणतया नातेदारी में दो तरह के नातेदार होते हैं :एक नातेदार वे हैं, जिनका रक्त सम्बन्ध है, जिनका पूर्वज एक ही है; और दूसरे नातेदार वे है जो विवाह द्वारा नातेदारी सम्बन्ध से जुड़े है।

वंशानुक्रम शब्द का अर्थ उन मान्यता प्राप्त सामाजिक सबंधों से है जिन्हें एक व्यक्ति अपने पूर्वजों के साथ जोड़ता है और पूर्वज वह है जिसकी वह संतान है। किसी भी व्यक्ति के वंशानुक्रम को या तो उसके पिता के परिवार से या माता के परिवा से या दोनों से गिना जाता है। जब एक व्यक्ति का वंश उसके पिता के नाम से गिना जाता है तो इसे पितृवंशीय वंशानुक्रम कहते है। जब वंश को व्यक्ति की माता की ओर से गिना जाता है तो इसे मातृवंशीय वंशानुक्रम कहते हैं। वंशानुक्रम की इस व्यवस्था को एक पक्षीय वंशानुक्रम कहते हैं। कुछ लेखक पितृवंशीय के स्थान पर पैतृकबंध का प्रयोग करते है। इसी प्रकार मातृवंशीय के स्थान पर वे मातृक वंशानुक्रम काम में लाते हैं। अपवाद रूप में कुछ ऐसी जन–जातियां भी है जिन्हें उभयवंशीय भी कहते हैं। यहां यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस समूह में वे लोग नहीं है जो विवाह संबंधी नातेदार है। कभी–कभी काल्पतकन जैविक सम्बन्धों को भी स्वीकार किया जाता है। धर्म के आधार पर जैविक संबंध स्थापित हो जाते हैं। हम बोलचाल की भाषा में प्रायः धर्म का भाई या धर्म की बहिन की चर्चा करते हैं।

वंशानुक्रम बंधुत्व को और भी अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। इसका विश्लेषण हम सुविधा के लिए विवाह से प्रारंभ करेंगे। प्रत्येक समाज पुरुष और स्त्री में शारीरिक बनावट को लेकर अंतर करता है। यह इस बनावट के कारण ही है कि स्त्री बच्चों का प्रजनन करतीहै। पुरुष और स्त्री में विवाह द्वारा यौन संबंध होते हैं। इस तरह पहला रिश्तेदार तो पुरुष का उस स्त्री से है जिससे वह विवाह करता है। इस प्रकार के सम्बन्ध को विवाह रिश्तेदार कहते है।

पति–पत्नी से जो संतान उत्पन्न होती है उस संतान का अपने माता–पिता से जो संबंध होता है उसे वंशानुक्रम कहते हैं। इस परिवार में जब दूसरी संतान का जन्म होता है तो एक नये प्रकार के वंशानुक्रम सम्बन्ध पैदा होते हैं। अब ये दोनों बच्चे अपनी उत्पति अपने माता–पिता से मानते है। अतः इन बच्चों का अपने माता–पिता के साथ जो संबंध है

उसे नातेदारी व्यवस्था में वंशानुक्रम कहा जाता है। वंशानुक्रम सम्बन्ध के अतिरिक्त यहां हमें एक और संबंध भी मिलता है। परिवार के दोनों बच्चें आपस में भी सम्बन्धी है या तो वे भाई–भाई है, बहिन–बहिन है, या भाई–बहिन। बच्चों में पारस्परिक सम्बन्धों को नातेदारी व्यवस्था में समापार्श्व नातेदार कहते हैं। इस विवेचन का अर्थ यह हुआ कि एक ही माता–पिता के बच्चे एक ही वंशानुक्रम के हिस्सेदार या सांझेदार होते है लेकिन वे परस्पर एक–दूसरे के लिए वंशानुक्रम स्वजन नहीं है वे तो केवल अर्थात् समपार्श्व नातेदार है।

बोलचाल की भाषा में समरक्त नातेदारों की गिनती करना चाहें तो इसका यह उपाय है कि हम किन लोगों को अपना नातेदार समझते है और इसके उत्तर में जो नातेदार मिले उन्हें हम नातेदारों के विवरण में रख दें। इस प्रकार का कार्य सबसे पहले मोरगन ने किया था। उन्होंने नातेदारों का विवरण देकर उनका वर्गीकरण कर दिया। मोरगन ने बताया कि वे व्यक्ति जिन्हें हम ''पिता, माता, भाई, बहिन'' आदि नाम से पुकारते है उन्हें दूसरे व्यक्ति भी इसी नाम से पुकार सकते हैं। इस प्रकार से सभी व्यक्ति जो रक्त से संबंधित है उन्हें पितृ–नातेदार या मातृ नातेदार कहते हैं और वे लोग जो विवाह से संबंधी है, विवाह नातेदार कहलाते है।

वंशानुक्रम नातेदारी का विश्लेषण में एक और पद का प्रयोग भी होता है जिसे सम्मिलित समूह कहते हैं। इस समूह में भी वे लोग आते है जिनका एक ही वंशानुक्रम होता है, जो वंश की समपत्ति को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक धारण करते रहते हैं। पितृवंशीय या पैतृक नातेदार कहलाते हैं। ऐसे समूह जिनमें एक बच्चे के साथ वंशानुक्रम की कड़ी स्त्री से जुड़ जाती है, मातृवंशीय या मृतत नातेदार कहते हैं। अंग्रेजी का शब्द यूटेराइन लेटिन भाषा का है जिसका अर्थ स्त्री वंशानुक्रम होता है।

वंशानुक्रम के आधार पर बना हुआ सम्मिलित समूह तकनीकी भाषा में वंश कहलाता है। यदि कोई व्यक्ति पितृवंशीय है तो इससे उत्पन्न हुई सन्तान पिता के वंश से

जोड़ी जाती है। पिता के माध्यम से ऐसे पुत्र का वंश का उत्पादन साधनों पर अधिकार होता है, चाहे वे उत्पादन भूमि, पशु या कोई छोटा-बड़ा व्यवसाय हो। मातुवंशीय समाज में प्रत्येक व्यक्ति अपना संबंध माँ के संबंध से रखता है, वंश की सम्पत्ति पर अधिकार ऐसे समाजों में माता का होता है। ऐसे कुछ अपवाद मिले हैं, जहां मातृवंशीय परिवारों में सम्पत्ति पर माता का अधिकार नहीं होता।

पिछले पृष्ठों में हमनें वंशानुक्रम नातेदारों का विवेचन किया है।

संक्षेप में हम यह कहेंगें कि वंशानुक्रम नातेदार वे है जिनकी इस समूह में सदस्यता स्वतः जन्म से होती है, जिसमें वंश का नाम एकपक्षीय, मातृ या पितृ होता है और जो अपनी इस परम्परा को सतत बनाये रखते है। इस समूह के दो पक्ष है। एक वह जिसमें वंश का संबंध उपर की पीढ़ियों के साथ जोड़ा जाता है और दूसरा वह जिसमें संबंधों का आधार वंशानुक्रम न होकर एक वंश की संतान होता है। यह समुह समपार्श्व नातेदारी समूह कहा जाता है।

4.3 सारांश :

- परिवार, विवाह और नतेदारी मनुष्य जाति की बुनियादी संस्थाएं है।
- परिवार किसी भी समाज की एक प्राथमक इकाई है। मनुष्य का जन्म परिवार में ही होता है। उसकी बाल्यावस्था परिवार से ही गुजरती है। यहीं वह चलना-फिरना सीखता है। भाषा को अपनाता है, व्यहवार के प्रतिमान सीखता है और इस भांति हर अर्थों में परिवार व्यक्ति के लिए एक सार्वभौम समूह है।
- परिवार के दो पक्ष है : संरचनात्मक और संस्थागत। परिवार कुछ सदस्यों से मिलकर बनता है। ये सदस्य एक साथ रहते है। इनका घर होता है। इनकी एक सम्मिलित सम्पति होती है। परिवार एक-एक निश्चित धर्म या उसके पूजा की परम्परागत विधियां

होती है। परिवार की संरचना के मूल में कुछ निश्चित नियम होते हैं, कार्य प्रणाली होती है। इसी कारण हम इसे संरचना और संस्था दोनों रूपों में देखते है।

- सामान्यता सभी समाजों में परिवार में यौन संबंध अनिवार्य रूप से पाये जाते है। यह अवश्य है कि कभी–कभी पत्नी या पति की मौत के कारण, विवाह–विच्छेद होने से यौन संबंध नहीं होते।
- परिवार एक बहुत बड़ा लक्षण सन्तानोत्पत्ति है। दुनियाभर के लोगों की यह मान्यता रही है कि यदि प्रजनन न किया जाये तो समाज की निरन्तरता समाप्त हो जायेगी।
- परिवार केवल यौन संबंधों की स्वीकृति से ही नहीं बनते। परिवार के सदस्यों को एक सूत्र में बांधे रखने का काम आर्थिक बंधन करते हैं। लेवी स्ट्राऊस ने तो कहा है कि आदिम समाजों का बुनियादी आधार आर्थिक सम्बन्ध होते है।
- परिवार बच्चों का पालन पोषण करता है; उन्हें शिक्षा–दीक्षा देता है और हमारे देश में तो परिवार ही शादी–ब्याह करवाता है और आर्थिक स्वावलम्बन प्रदान करता है।
- परिवार के सदस्यों में आर्थिक संबंधों के अतिरिक्त भावनात्मक संबंध भी होते हैं। हमारे यहां आई.पी. देसाई ने सौराष्ट्र के महुआ कस्बे का जो अध्ययन किया है उसमें उसकी एक प्राप्ति यह है कि परिवार के लोग कहीं भी रहें, कुछ भी कमायें, फिर भी ये सब सदस्य भावनात्मक रूप से एक दूसरे से जुड़े रहते हैं।
- एक साथ रहते हुए नियमित यौन सम्बन्ध और आर्थिक सहयोग रखने को विवाह कहते हैं। इस तरह विवाह के मूलभूत तत्व है : स्त्री तथा पुरुष के बीच में समाज द्वारा अनुमोदित पति–पत्नी के रूप में नियमित यौन सम्बन्ध, उनका एक साथ रहना, बच्चों का प्रजनन, और आर्थिक सहयोग।
- विवाह स्त्री और पुरुष के पारिवारिक जीवन में प्रवेश करने की एक संस्था है। वास्तव में विवाह की परिभाषा समाज के संदर्भ में की जाती है। उदाहरण के लिए यूरोप और

अमेरिका के समाजों में विवाह को सापेक्षिक रूप में कम स्थायी समझते हैं। इन समाजों में विवाह करना आवश्यक हो, ऐसा भी कुछ नहीं है। जैसा कि हमने इस अध्याय के प्रारंभ में कहा समाज में विवाह नहीं करना अपवाद समझा जाता है। भारत और इसके आसपास के देशों में विवाह लगभग स्थायी होता है। यह तो पिछले जन्म में ही तय हो जाता है। कापड़ियां ने हिन्दु विवाह को दो टूक शब्दों में पारिभाषित किया हैः

- हिन्दू विवाह एक संस्कार है, धार्मिक कृत्य है।
- एक विवाह से तात्पर्य है, एक समय में एक व्यक्ति एक ही स्त्री के विवाह करता है। इसके अन्तर्गत वे विवाह भी आते हैं जिनमें एक पत्नी की मृत्यु हो जाने के बाद या विवाह विच्छेद की स्थिति में दूसरी स्त्री से विवाह किया जाता है। एक विवाह या बहुविवाह का सम्बन्ध व्यक्ति से न होकर समाज से होता है। इसका तात्पर्य यह है कि समाज ही एक विवाही या बहुविवाही होता है।
- पश्मिी समाज में विवाह एक समस्या बन गयी है। अमेरिका में तलाक की दर ऊँची दिखायी जाती है। वास्तव में यूरोप और अमेरीका ऊँचे दर्जे के औद्योगिक और पूंजीवादी राष्ट्र है। यहां व्यक्तिवाद अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया है। इस वैचारिक बदलाव के अतिरिक्त इन देशों ने दो बहुत विश्वयुद्ध देखे हैं। इन कारकों के कारण इन देशों में तलाब की दर बढ़ गया है।
- जो लोग आनुवंशिकता और जैविकता द्वारा बंधे हुए हैं स्वजन या नातेदार है। इस तरह से नातेदारी व्यवस्था जैविक जाल का एक स्वरूप है। इस जाल में व्यक्ति एक गांव की तरह है जो वाहकाणुओं को दूसरों से ग्रहण करता है और इनकों दूसरों को प्रदान करता है।

4.4 सूचक शब्द :

परिवार : परिवार किसी भी समाज की एक प्राथमक इकाई है। मनुष्य का जन्म परिवार में ही होता है। उसकी बाल्यावस्था परिवार से ही गुजरती है। यहीं वह चलना–फिरना सीखता है। भाषा को अपनाता है, व्यहवार के प्रतिमान सीखता है और इस भांति हर अर्थों में परिवार व्यक्ति के लिए एक सार्वभौम समूह है।

यौन सम्बन्ध : सामान्यता सभी समाजों में परिवा में यौन संबंध अनिवार्य रूप से पाये जाते है। यह अवश्य है कि कभी–कभी पत्नी या पति की मौत के कारण, विवाह–विच्छेद होने से यौन संबंध नहीं होते।

प्रजनन : परिवार एक बहुत बड़ा लक्षण सन्तानोत्पत्ति है। दुनियाभर के लोगों की यह मान्यता रही है कि यदि प्रजनन न किया जाये तो समाज की निरन्तरता समाप्त हो जायेगी।

आर्थिक बंधन : परिवार केवल यौन संबंधों की स्वीकृति से ही नहीं बनते। परिवार के सदस्यों को एक सूत्र में बांधे रखने का काम आर्थिक बंधन करते हैं। लेवी स्ट्राऊस ने तो कहा है कि आदिम समाजों का बुनियादी आधार आर्थिक सम्बन्ध होते है।

दीर्घकालीन समूह : समाज के अगणित समूहों में परिवार ऐसा समूह है जो प्राथमिक, निश्चित और दीर्घकालीन होता है। इतिहास के प्रत्येक युग में, समाज कैसा भी हो, उसमें समूह अवश्य होते हैं और इधर मनुष्य अपने जन्म से लेकर मृत्यु तक परिवार की सीमा में बंधा रहता है।

संयुक्त परिवार की संरचना : संयुक्त परिवार के लक्षण हैं : एक से अधिक सदस्य, एक ही छत के नीचे निवास , सामान्य अर्थ व्यवस्था, एक ही देवी यानी कुल देवता की पूजा, व दो से अधिक पीढ़ियाँ।

विवाह : यह एक स्थिर सम्बन्ध है जिसकी अनुमति, समुदाय के मध्य अपनी स्थिति को खोये बिना, पुरुष तथा स्त्री को समाज प्रदान करता है। इस तरह के स्थिर सम्बन्ध की दो और शर्ते है : यौन संतुष्टि तथा बच्चों का प्रजजन।

एक विवाह : एक विवाह से तात्पर्य है, एक समय में एक व्यक्ति एक ही स्त्री के विवाह करता है। इसके अन्तर्गत वे विवाह भी आते हैं जिनमें एक पत्नी की मृत्यु हो जाने के बाद या विवाह विच्छेद की स्थिति में दूसरी स्त्री से विवाह किया जाता है। एक विवाह या बहुविवाह का सम्बन्ध व्यक्ति से न होकर समाज से होता है। इसका तात्पर्य यह है कि समाज ही एक विवाही या बहुविवाही होता है।

बहुपति विवाह : इस विवाह में एक ही समय में एक स्त्री एक से अधिक पुरुषां से विवाह करती है। कई बार हमारे यहां इसे बहुपति विवाह भी कहते हैं। रिवर्ज ने जो ब्रिटिश मानवशास्त्री थे, दक्षिण भारत के टोडाओं में काम किया था।

बहुपत्नि विवाह : जब एक ही समय में एक पुरुष एक से अधिक स्त्रियों से विवाह करता है तो इसे बहुपत्नी विवाह कहते हैं। पिछले दिनों में हमारे देश में राजा–महाराजा एक ही समय में कई स्त्रियों से विवाह करते थे। राजा दशरथ की तीन रानियां थी। मुसलमानों में तो एक व्यक्ति एक ही समय में अधिकतम चार स्त्रियों से विवाह कर सकता है। जहां ये बेंगमे निवास करती है उस स्थान को हरम कहते हैं। जहां रानियां निवास करती थी उसे रनिवास कहते थे।

नातेदारी : परिवार, विवावह और नातेदारी एक दूसरे से जुड़े हैं। नातेदारी शब्द के कई अर्थ है। वास्तव में इस शब्द की जटिलता इतनी अधिक है कि इसके किसी भी अध्ययन में हमें सर्वप्रथम इसका अर्थ स्पष्ट कर लेना चाहिए। नातेदारी का एक अर्थ जैविक है, दूसरा अर्थ व्यवहार संबंधी है और तीसरा भाषा संबंधी। यह बहुत आवश्यक है कि हम नातेदारी के इन तीनों संदर्भों को एक दूसरे से पृथक रखें।

4.5 स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न :

1. सटीक उदाहरण देते हुए परिवार पर चर्चा करें।
2. विवाह के विभिन्न पहलू क्या हैं? विस्तार से चर्चा करें।
3. नातेदारी के विविध पहलुओं पर विस्तार से चर्चा कीजिए।

4.6 संदर्भित पुस्तकें :

जन संचार मे स्नातक पाठ्यक्रम – द्वितीय वर्ष

समाजशास्त्र – बी एम सी 106

खण्ड ब इकाई एक पाठ संश्या 5

जाति एवं वर्ग

लेखकः प्रो0 एम एल गोयल ।

गोंर्वमेंट कॉलेज, हिसार ।

वैटरः प्रो0 बी के कुठियाला ।

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र ।

सिम शैली में परिर्वतनः श्री मिहिर रंजन पात्र ।

वरिष्ठ व्याख्याता, गुरु जम्भेश्वर विश्वविद्यालय, हिसार।

अध्याय संरचनाः

इस अध्याय में हम जाति एवं वर्ग के कुछ पहलुओं का अध्ययन करेंगे। अध्याय की संरचना इस प्रकार रहेगीः

5.1 उद्देश्य

5.1 परिचय

5.2 विषय वस्तु की प्रस्तुति

5.2.1 जाति– एक परिचय

5.2.2 वर्ग– एक परिचय

5.3 सारांश

5.4 सूचक शब्द

5.5 स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

5.6 संदर्भित पुस्तकें

5.0 उद्देश्य :

इस अध्याय के उद्देश्य इस प्रकार हैंः

- जाति की अवधारणा से परिचित होना
- वर्ग की अवधारणा से परिचित होना

5.1 परिचय :

अपने गिर्द देखने पर प्रतीत होता है कि समाज असमान प्रकृति वाला है। कहीं अमीर है, कहीं गरीब, कहीं व्यपारी है कहीं कृपीकार और इसी तरह विजेता और कामी लोग भी है। समाज हर जगह आर्थिक, सामाजिक राजनीतिक और धार्मिक वर्गो में विभाजित है। सामाजिक स्तरीकरण का अर्थ है समाज का विभिन्न वर्गो में वर्गीकरण। सामाजिक स्तरीकरण की निम्नलिखित परिभाषाएँ दी गई है :–

1. मुर्रे के अनुसार ''सामाजिक स्तरीकरण समाज का उच्च और निम्न भागों में सामान्तर विभाजन है।''

2. गिस्वर्ट के अनुसार ''सामाजिक स्तरीकरण समाज का उच्चता और निम्नता के संबंधों से बचा हुआ स्थायी समूहों में विभाजन है।''

3. मेयर के अनुसार ''सामाजिक स्तरीकरण सामाजिक स्थिति की रूढ़ियों में विभिन्नता की प्रणाली है। इसमें रहने वाले लोगों को सामाजिक गतिविधियों के अनुसार उच्च, निम्न या समान माना जाता है।''

इस प्रकार सामाजिक स्तरीकरण समाज को विभिन्न भागों में बांटता है। कुछ व्यक्ति

अवसरों और विशेषाधिकारों के आधार पर दूसरों के ऊपर माने जाते है। अतः कहा जा सकता है कि असमान अवस्थाएं ही सामाजिक स्तरीकरण का विशेषरूप है और सामाजिक स्तरीकरण की परिभाषाए है अवस्थाओं के आधार पर समाज का वर्गीकरण।

सामाजिक स्तरीकरण के लिए स्थिति या अवस्था एक महत्वपूर्ण तत्व है मैकाईवर के अनुसार अवस्था वह 'सामाजिक स्थिति है जो इससे प्राप्त कर्ता के लिए, व्यक्गित गुणों और समाज सेवा के बिना भी, इज्जत, प्रतिष्ठा और प्रभाव का निश्चय करती है। इसमें कुछ सामाजिक विशेषाधिकारों का सम्मिश्रण होता है। ये विशेषाधिकार जीवन–स्तर और सदस्यों के रहने–सहने का ढंग का निश्चय करते है। अतः उच्च वर्ग को ऊँची स्थिति प्रदान की जाती है।

इस अध्याय में हम जाति एवं वर्ग के कुछ पहलुओं का अध्ययन करेंगे।

5.2 विषय वस्तु की प्रस्तुतिः

इस अध्याय में विषय वस्तु का प्रस्तुतिकरण इस प्रकार रहेगाः

- जाति– एक परिचय
- वर्ग– एक परिचय

5.2.1 जाति– एक परिचय :

सामाजिक स्तरीकरण, समाज में परिचलित गुणों से कुछ अधिक और समुदाय द्वारा मान्य गुणों के आधार पर, निश्चित होती है। ज्ञान को संपत्ति से अधिक महत्व देकर एक विद्यार्थी को धनवान व्यक्ति के उच्च स्थिति प्रदान की जा सकती है और इसी तरह इसका उल्ट भी हो सकता है।

सामाजिक स्तरीकरण के सिद्धांत :

सामाजिक स्तरीकरण के दो सिद्धांत है :

1. **मार्क्सिस्ट सिद्धांत :** इस सिद्धांत के अनुसार सामाजिक वर्ग उत्पादन के साधनों से संबंधित है और उत्पादन के साधनों पर ही निर्भर होते है। मार्क्स ने समाज को दो वर्गो में बांटा है कामकाजी और धनी कामकाजी वर्ग गरीब और धनी वर्ग पूंजीपती लोगों का प्रतिनिधित्व करती है व्यक्ति को उत्पादन के साधनों से संबंधित मानकर यह सिद्धांत वर्ग–चेतना को जन्म देता है।

2. **कार्यात्मक सिद्धांत :** यह सिद्धांत कार्यात्मकता की सामान्य भावना पर आधारित है। ऐसा कोई समाज नहीं है जिसमें स्तर नहीं है विभिन्न लोगों को विभिन्न प्रकार के काम दिए गए है जिसका परिणाम होता है वर्ग विभाजन और सामाजिक स्तरीकरण।

सामाजिक स्तरीकरण का स्वरूप :

सामाजिक स्तरीकरण के विभिन्न स्वरूप है :

1. **गुलामी :**

गुलाम या सेवक शब्द का प्रयोग ऐसे व्यक्ति के लिए किया जाता है जिसे कानून या प्रथा किसी दूसरे व्यक्ति की सम्पत्ति मानता है गुलामी में प्रत्येक गुलाम का एक मालिक होता है। जिसकी शक्ति असीमित होती है। गुलामों को निम्न कोटि का मानकर राजनैतिक अधिकार नहीं दिए जाते। इस दास–प्रथा का आधार मुख्तया आर्थिक है।

2. **जागीरदारी :**

मध्यकाल की जागीरदारी की प्रथा भी सामाजिक स्तरीकरण का एक कारण है। इनका आधार कानूनी था और अनेक कार्य–सम्पन्न करने के कारण श्रम विभाजन भी था। ये जागीरें राजनैतिक समूहों के अड्डे भी थे।

3. **जाति–पाति :**

भारतवर्ष में जाति–पाति की प्रथा भी एक विशेष प्रथा ही है। एक तो इसका सम्बन्ध आर्थिक असमानताओं से है। पुरातन समय के चार वर्णो से जातियों में र्का विभाजन स्पष्ट हो जाता है। जातियां भारत में कार्यकारी समूह भी है।

4. **सामाजिक वर्ग :**

सामाजिक वर्ग–प्रणाली आर्थिक कारणों पर आधारित होती है। यह व्यपारिक समाज की रूचिों का प्रतिनिधित्व करती है अतः व्यापारिक समाज उच्च, मध्य और निम्न वर्गो में विभाजन होता है। काम की असमानता के प्रकार समाज में कार्यो को निम्न आधारों पर विभाजित किया जाता है। (1) आयु (2) यौन (3) वंश परम्परा (4) आर्थिक परम्परा (5) राजनैतिक स्थिति (6) धर्म (7) ज्ञान (8) एकता (9) स्तर। किंग्सले डेविस ने स्तरीकरण के लिए कार्य की आवश्यता पर जोर डाला है। सोरोकिन ने सामाजिक स्तरीकरण को वंश–परम्परा की असमानता और वातावरण पर निर्भर माना हैं गम्पलोवीज ओपनहीमर इत्यादि ने एक समूह का दूसरे समूह का अधिकार को सामाजिक स्तरीकरण का आधार माना जाता है।

भारत में हमे जातियों के रूप में एक विशेष प्रकार की सामाजिक प्रणाली से वास्ता पड़ता है यद्यपि जाति–पाति के चिन्ह आज भी हब्शियों, बर्मा और अमरीका निवासी लोगों में एवं संसार के अनेक स्थानों पर पाये जाते है। फिर भी भारत में जाति–प्रथा अपने पूर्ण रूप में ही विद्यमान है। यहां हमें सामाजिक संगठन का ऐसा रूप दृष्टिगोचर होता है जो अपने ही रूपों में ऊँचा उठते–2 भव्य रूप प्राप्त कर चुका है –जो बहुत व्यापक एवं उलझा हुआ है।

जाति की व्याख्या :

शब्दोप्पति के विचार से जाति शब्द स्पेद भाषा के कास्टा शब्द से बना है जिसका

अर्थ नस्ल कुल या वंश शोधना अथवा वंश परम्परा से प्राप्त गुणों की जटिलता है। पुर्तगालियों ने इस शब्द का प्रयोग भारत में रहने वाले 'जाति' नाम से प्रसिद्ध लोगों के वर्गो के लिए किया थ्था। अंग्रेजी का 'कास्ट' शब्द मौलिक शब्द का सुधरा रूप ही है।

जाति या कास्ट शब्द की अनेक व्याख्याएँ दी गई हैं। रिज्ले ने 'जाति' की व्याख्या करते हुए इसे एक समान नाम वाले परिवारों का संग्रह या समूह बताया है जो अपने आपको किसी मानव या दैवी कल्पित पूर्वज की संतान मानते हैं, जो अपना परम्परागत काम करते हैं और जो विद्धानों के मतानुसार एक ही सजातीय समूह का रूप धारण करते हैं। ई.ए.एच. ब्लण्ट ने जाति को सामान्य नाम वाले, सजातीय विवाहित समूहों का संग्रह बताया है, जिसकी सदस्यता परम्परागत होती है, जिसके अर्न्तगत सदस्यों पर सामाजिक मेलजोल सम्बन्धी कुछ पाबन्दियां लगती है, जो या तो अपना परम्परागत काम धंधा करते हैं अथवा एक ही मूल वंश से अपनी उत्पति होने का दावा करते है और आम तौर पर एक ही सजातीय समुदाय का रूप धारण करते है। सी.एच.कूले कहता है कि शब्दां में जब व्यक्ति की प्रतिष्ठा पूर्णरूपेण पूर्वनिश्चित हो, और जन्म लेने के बाद व्यक्ति के जीवन में किसी प्रकार के सुधार या परिवर्तन की आशा न हो, तब वह वर्गजाति बन जाता है। मार्टिनडोल और मोनाकंसी जाति की परिभाषा देते हुए कहते हैं कि यह उन लोगों का समूह है जिनके कर्त्तव्य और विशेषाधिकार जन्म से ही निश्चित हैं और धर्म के जादू द्वारा स्वीकृत और मान्य है। केटकर का विचार है कि जाति दो विशेषताएं रखता हुए एक समूह है। (1) सदस्यता केवल सदस्यों के बच्चों तक ही सीमित होती है। (2) सदस्य समाज के अपरिवर्तनशील कानून द्वारा उस समूह के बाहर शादी नहीं कर सकते।

इस प्रकार विचारकों ने 'जाति या कास्ट' शब्द की अनेक व्याख्याएँ प्रस्तुत की है। परन्तु जैसा कि गुर्रे का कथन है कि इस विद्वान विद्यार्थियों के समस्त परिश्रम के अतिरिक्त भी हमें 'जाति' शब्द की ठीक-ठीक और उचित व्याख्या नहीं मिल सकी। जाति शब्द को

भली–भांति समझने का सबसे आसान तरीका यह है कि जाति–पाति प्रणाली के मूल में काम करने वाले अनेक तत्वों की परीक्षा की जाये। जाति के लक्षणों में से निम्नलिखित महत्वपूर्ण महत्वपूर्ण हैं :

1. जाति प्राकृतिक हैं :

सबसे पहला लक्षण उसकी कठोरता और स्थायीत्व है। व्यक्ति जिस जाति में पैदा होता है उसी में ही उसकी मृत्यु भी हो जाती है तथा समाज में व्यक्ति का क्या स्थान है इस बात का निर्णय भी जाति–पाति के अनुसार ही होता है

2. खान–पान संबंधित नियम :

भिन्न–भिन्न जातियों के लिये खान–पान के निर्मित भेद 'जाति' का दूसरा तत्व है। उदाहरण के लिये ब्राह्मण मांसाहारी नहीं हो सकता। क्षत्रियों और वैश्यों के लिये भी खाने की कुछ विशेष प्रकार की चीजे वर्जित है जैसे गोमांस आदि। परन्तु शुद्रों को भक्ष्यामक्ष्य सभी कुछ खाने की खुली छुट्टी है।

3. जाति में विवाह आवश्यक है :

विवाह जाति–पाति प्रणाली का सबसे महत्वपूग्र लक्षण है। वेस्टरमार्क के विचार में यह जाति की मुख्य विशेषता है। इस नियम के अनुसार हर व्यक्ति को केवल अपनी ही जाति में और यदि उसकी जाति में कोई उपजातित हो तो उस उपजाति या गोत्र में ही विवाह करने की आज्ञा है। अलग–अलग जातियों के खान–पान, रहन–सहन और संस्कृति संबंधी भेदों का पालन करने के कारण यह नियम धीरे–धीरे इतने कठोर हो गये कि अंतर्जातीय विवाह संभव हो गये हैं और यदि कोई सजातीय विवाह के नियम का उल्लंधन करके विजाति में विवाह करें तो उसका हुक्का–पानी, लेन–देन, और खान–पीन बंद कर दिया जाता है और उसे बिरादरी से बाहर निकाल दिया जाता है।

4. समाज का वंश पारम्परिक ढांचा :

समाज की जाति–पाति सम्बन्धी रचना, सोपानत्मक संगठन, धर्माध्यापक के प्रभुत्व अथवा अधीनता की प्रणाली है। जिसके अन्तर्गत लोगों को आपस में ऊँच–नीच के नियम के अनुसार इकट्ठा किया जाता है। इस प्रणाली में सबसे ऊँचा स्थान ब्राह्मण को मिलता है और सबसे निचले स्थान पर शुद्र होते है। सोपान्त्मक नियम के अनुसार संगठित जाति–पाति में व्यक्ति को कौन सा स्थान मिलता है, इस बात का निर्णय बहुथा इसी बात से किया जाता है कि उनका ब्राह्मणों के साथ क्या संबंध है। अतः सर्वोच्च जाति वही है जिससे ब्राहामण भोजन स्वीकार कर लें। इससे दूसरे दर्जे की यह जाति है जिससे ब्राहाण, क्षत्रिय और वैश्य, तीनों ही जातियां भोजन स्वीकार कर लें। जाति–पाति में सबसे निचला दर्जा उन जातियों का है जिनके यहां यह ऊँची जातियां खाना–पीना स्वीकार नहीं करती बल्कि उनसे इतना अधिक परहेज किया जाता है कि वे ऊँची जाति का व्यक्ति भ्रष्ट हो जाए। इसलिए इन जातियों को 'अछूत' कहा जाता है। इस धर्माध्यापक प्रभुत्व के कारण ब्राह्मणों को, जहां बहुत सी सामाजिक और धार्मिक सुविधाएं मिली हुई है वहां जाति प्रणाली ने इनके जीवन में कई तरह की मजबूरियां भी पैदा कर दी है।

5. काम धंधे भी नियमित होते है :

प्रत्येक जाति कुछ काम–काम या धंधों को परम्परागत और केवल अपने लिये ही समझती है और दूसरे लोगों को उन धंधों से वंचित रखने का प्रयत्न करती है। ब्राह्मण का असली कार्य पुरोहित का काम अथवा पूजा–पाठ करना, क्षत्रियों का काम सैनिक बनना तथा सुरक्षा का कार्य (युद्ध आदि) करना, वैश्यों का काम वाणिज्य, व्यापार करना और शुद्रों का काम इन तीनों जातियों की सेवा करना माना गया है। परन्तु समय गुजरने के साथ व्यवसाय सम्बन्धी इन नियमों और बंधनों में पर्याप्त हेरफेर और सुधार हुआ और अब भी नये–नये सुधार हो रहे है।

6. जातीय पंचायत :

जाति–पाति प्रणाली की अन्तिम विशेषता है कि इसके अन्तर्गत जाति का भाग अधिकार सम्पन्न हो जाता है और अन्य सदस्यों को अपने अधीन करके अपनी आज्ञा का पालन कराये के लिये बाध्य कर देता है। बहुधा जातीय पंचायत ऐसे ही अधिकारों से सम्पन्न होती है और परम्परागत रूप से जाति में नियम और अनुशासन से सम्बन्धित सभी मामलों पर विचार करती है। कई बार कानूनी अदालत के रूप में कार्य करती है और जीतीय नियमों के उल्लंघन में अपना फैसला देती है एवं जुर्माने भी करती है। परन्तु आजकल परम्परागत जातीय पंचायतों के अधिकार कम हो गये है और उनके सारे कार्य ग्राम पंचायत कर रही है

जाति प्रथा के दोष :

परन्तु जाति प्रथा से कई दोष भी पैदा हो गए है :

1. **श्रम की गतिशीलता का गुण समाप्त कर देती है :**

जाति–प्रथा ने काम या व्यवसाय को स्थायी रूप दे दिया है। व्यक्ति काम–धंधे को अपनी इच्छा और अपनी पसन्द के अनुसार छोड़ या अपना नहीं सकता और उसे अपनी जाति के निश्चित व्यवसाय को ही करना पड़ता है, भूले ही वह उसे पसन्द हो अथवा नापसन्द हो। इससे समाज की गतिशीलता ही समाप्त हो जाती है।

2. **अस्पृश्यता :**

जाति या प्रथा से अस्पृश्ता फैलती है। महात्मा गांधी के मतानुसार यह जाति–पाति की सर्वाधिक घृणित अभिव्यक्ति है। इससे देश का अधिकांश भाग पूर्ण दासता के लिए मजबूर हो जाता है

3. **एकता की ठेस पहुंचती है :**

इसने कठोरात पूर्वक एक वर्ग को दूसरे वर्ग से अलग करके और उनमें परस्पर किसी भी

प्रकार के मेल–जोल को रोककर हिन्दू समाज की एकता और भ्रात्–भावना को बहुत हानि पहुंचाई है।

4. व्यक्ति और उसके काम में परस्पर सामंजस्य नहीं :

जाति प्रथा का परिणाम बहुधा यह होता है कि व्यक्ति अपने लिये अपनी सुविधा एवं इच्छानुसार व्यवसाय नहीं चुन सकता और उसे गलत काम ही अपनाना पड़ जाता है। यह जरूरी नहीं है कि पुरोहित का पुत्र निश्चित रूप से पुरोहित ही होगा अथवा वह पुरोहित का कार्य करना चाहे अथवा उसमें एक सफल पुरोहित या धार्मिक नेता के सभी गुण विद्यमान होंगे। परन्तु जाति–पाति प्रथा के अर्न्तगत वह किसी अन्य कार्य के लिये आवश्यक योग्यता और इच्छा होते हुए भी कोई दूसरा काम नहीं कर सकता।

5. राष्ट्रीयता में रूकावट :

देश की एकता के लिये यह बाधा सिद्ध हुई है। निचले वर्ग के लोगों के साथ समाज में जो अपमानजनक व्यवहार होता है उसके कारण वे असंतुष्ठ रहते है। जैसा कि जी.एस.गुर्रे ने कहा है कि जाति–भक्ति की भावना ही दूसरी जातियों के प्रति विरोध भाव को उत्पन्न करके समाज में असव्स्थ और हानिकारक वातावरण पैदा कर देती है और राष्ट्रीयता चेतना के प्रसार के मार्ग को अवरूद्ध करती है।

6. सामाजिक प्रगति में रूकावट है :

यह राष्ट्र की सामाजिक और आर्थिक प्रगति में बड़ी भारी रूकावट है। लोग धर्म सिद्धांत में विश्वास करने के कारण रूढ़िवादी बन जाते है। राष्ट्र की तथा भिन्न–भिन्न समूहों और वर्गो की आर्थिक स्थिति ज्यों ही रहती है इससे उनमें निराशा और आलस्य पैदा होकर उनकी आगे बढ़ने और कार्य करने की वृति ही नष्ट हो जाती है।

7. अप्रजातान्त्रिक :

अन्त में, क्योंकि जाति–प्रथा के अन्तर्गत जाति, रूप, रंग और वंश का विचार किये बिना

सब लोगों को उनके समान अधिकार प्राप्त नहीं होते इसलिये यह अप्रजातान्त्रिक है। निम्न वर्गो के लोगों के मार्ग में विशेष रूप में रूकावटे डाली जाती है उन्हे बौद्धिक, मानसिक और शारीरिक विकास की पूर्ण स्वतंत्रता नहीं दी जाती और न ही उसके लिये अवसर ही प्रदान किये जाते है।

जाति–प्रथा के गुण दोषा पर भी भली–भांति विचार करने से पता चलता है कि इसमें गुणों की अपेक्षा दोष अधिक होते है। जैसा कि जेम्स ब्राइस कहता है कि सामाजिक रचना एक महत्वपूर्ण तत्व है। जहां के लोगों को भाषा के आधार पर या धर्म के आधार पर जातीय भेदों के आधार पर अथवा वंश या व्यवसाय के अनुसार समूहीकृत जाति–भेदों के आधार पर बांट दिया जाता है वहां पर लोगों में परस्पर अविश्वास और विरोध पैदा हो जाता है और उनमें परस्पर मिलकर काम करना अथवा विभाग के लिये दूसरों के समान अधिकारों को स्वीकार करना अंसभव हो जाता है। यद्यपि सजातीयता वर्ग–संघर्षो को रोक नहीं सकती और फिर भी समुदाय के प्रत्येक वर्ग को दूसरों के मन को समझने में सहायता करती और राष्ट्र के समान मत पैदा करती है।

भारतवर्ष में जाति–प्रथा का ह्रास :

भारत में जाति–पाति प्रणाली में बहुत अदला–बदली हुई है। खान–पीन और व्यवसाय के आधार पर जाति विभाजन बड़ी तेजी से समाप्त होता जा रहा है। जाति–प्रथा की धार्मिक स्वीकृति भी धीरे–धीरे लोप होती जा रही है। अब कोई भी व्यक्ति यह बात स्वीकार करने को तैयार नहीं है कि 'कम' का नियम ही व्यक्ति की जाति का निर्णय करने वाला तत्व है। यह भावना बिल्कुल समाप्त हो गई है कि जातीय नियमों के उल्लंघन से पाप होता है। अस्पृश्यता को जो कि जाति–प्रथा का सबसे विकराल रूप और पण्डित नेहरू के शब्दों में हिन्दू समाज का घातक शत्रु थी बड़ी भारतीय ठेस लगी है इसे हमारे विधान को समाप्त कर दिया है और इसके किसी भी रूप में पालन की मनाही कर दी गई है। संविधान द्वारा

छुआछूत केवल चेष्टा मात्र ही नहीं है वरन् इस काननू के अनतर्गत कुछ अपराधियों को उचित दण्ड भी दिये गये है। अब अस्पृश्य या अछूत कहे माने जाने वाले लोगों के लिए मंदिरों के द्वारा खोल दिये जाते है। गांव और नगर के कुओं से अब सभी जातियों के लोग पानी भर सकते है। सार्वजनिक स्थलों, भवनों, मनोरंजन केन्द्रो, स्कूलों, कॉलेजों और विश्वविद्यालयों में कहीं भी भेदभाव नहीं बर्ता जाता। प्रशासन हरिजनों की ओर विशेष ध्यान दे रहा है। संसद्, विधान सभाओं और विधानमण्डलों तथा सार्वजनिक सेवाओं में उनके लिए स्थान सुरक्षित है।

जाति प्रथा में यह नये परिवर्तन बड़े ही उत्साहजनक सिद्ध हुए हैं और निम्नलिखित तत्वों को इस परिवर्तन के लाने में सहायक माना जा सकता है :

1. जाति-प्रथा की जड़ काटने वाला प्रथम महत्वपूर्ण तत्व पाश्चात्य शिक्षा का प्रसार है। सब लोगों की समानता पर बल देने वाले सुधारवादी आन्दोलनों, व्यक्ति की प्रतिष्ठा की भावना पर आधारित समानता के विचारों का विकास, राष्ट्रीयता की भावना का प्रसार, सम्मिलित परिवार का छिन्न-भिन्न होना और इन सब से सर्वोपरि भारतीय नेताओं विशेषकर राष्ट्रपिता महात्मा गांधी का कार्य, जन सब ने मिलकर जाति प्रथा को समाप्त करने में बड़ा ही महत्वपूर्ण कार्य किया है।

2. कुद बाहरी तत्वों ने भी जाति भावना को समाप्त करने में बड़ी सहायता की है यातायात एवं संचार व्यवस्था के प्रसार के फलस्वरूप लोगों में परस्पर मेलजोल अधिक बढ़ने लगा है और एक जाति को दूसरी जाति से दूर रखने वाली परिस्थितियों भी बदल गयी है। अब लोग एक दूसरे को पहले की अपेक्षा अधिक तरह समझने लगे है और पक्षपात और आपसी संदेह भावना मिटती जा रही है।

3. भारत में औद्योगिकरण ने जाति-प्रथा के अभाव को कम करने में विशेष सहायता की है इसने ऐसे व्यवसायों को जन्म दिया है जिनमें छोटे बड़े, ऊँचे और निचले वर्ग वाले

सभी आसानी से और स्वतंत्रता से मिलते –जुलते है। पहले जो काम शुद्र ही करते थे वह अब मशीनें करने लग गयी है और अब समाज में प्रत्येक व्यक्ति के लिये व्यवसाय बदलने, चुनने या अपनाने के अवसर उपल्बध हो गये है।

5.2.2 सामाजिक वर्ग– एक परिचय :

सामाजिक वर्ग किसी समाज में निश्चित रूप से समान सामाजिक प्रतिष्ठा वाले लोगों को एकत्रित स्वरूप को कहते है। यह समुदाय का एक भाग अथवा ऐसे लोगों का एकत्रण है। जिनका आपस में एक दूसरे के साथ समानता का सम्बन्ध या व्यवहार होता है और जो समाज के अन्य भागों से मान्यता और स्वीकृत प्राप्त ऊँच–नीच के स्तरों के आधार पर स्पष्ट रूप से भिन्न होते है। प्रत्येक विशिष्ट सामाजिक वर्ग का अपना विशिष्ट सामाजिक व्यवहार, अपने निजी स्तर और व्यवसाय होते हैं किसी वर्ग का समाज में क्या स्थान है इस बात का निर्णय वर्ग की समाज में प्रतिष्ठा के आधार पर होता है। जहां प्रतिष्ठा के विचार अथवा ऊँच–नीच के भाव ही राजीनतिक वर्ग विद्यमान होता है। प्रतिष्ठा या स्थिति सामाजिक वर्ग का बुनियादी सिद्धांत है।

कुछ निम्नलिखित परिभाषाएं दी गई है :

1. मेकाईवर के अनुसार ''सामाजिक वर्ग अपनी सामाजिक स्थिति के बाकी समुदायों से अलग है।''

2. ऑगबर्न और निमकोफ के अनुसार ''सामाजिक वर्ग समाज में समान स्तर वाले लोगों का समूह है।''

3. लेपियर के अनुसार ''सांस्कृति के आधार पर मिली समान स्थिति या स्तर वाले समूह हो सामाजिक वर्ग कहते है।

4. गिन्सवर्ग के अनुसार ''वर्ग, समान, वंश, समान व्यवसाय, समान धन और शिक्षा, समान विचार, भावनाएं और समान व्यवहार रखने वाले लोगों का समूह है।

सामाजिक वर्ग में सर्वप्रथम, व्यक्ति के मन में अपने ही वर्ग के सदस्यों के साथ परस्पर सम्बन्धों में बराबरी का भाव होता है, और इस बात का विश्वास होता है कि उसके व्यवहार का समान जीवन स्तर वाले लोगों के साथ सामंजस्य हो सकेगा। एक ही सामाजिक वर्ग के लोगों से इस बात की आशा की जाती है कि वे समान जीवन स्तर कायम रख सकेंगे तथा सीमित व्यवसाय क्षेत्र में से ही अपने लिये व्यवसाय का चुनाव कर सकेंगे। एक वर्ग के सदस्यों के भाव और समान व्यवहार दृष्टिगोचर होता है।

दूसरे, एक वर्ग में सामाजिक तौर पर अपने से ऊँचे वर्ग वाले लोगों को देखकर व्यक्ति के स्वयम् अपने ही मन में हीनता का भाव पैदा हो जाता है और तीसरी बात यह है कि सामाजिक रूप से ऊँचे वर्ग में अपने से निचले वर्ग के लोगों के प्रति स्वयम् अपने अंद बड़प्पन का भाव पैदा हो जाता है।

सामाजिक वर्ग की प्रतिष्ठा मूल्ल निर्धारण पर आधारित है, जिससे समुदाय समाज में प्रचलित विचारों के अनुसार कुछ विशेषताओं को अन्य विशेषताओं की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण समझता और अपना लेता है। इस प्रकार संभव है कि ज्ञान को धन से अधिक मूल्यवान मान लिया जाये और विद्वान व्यक्ति का समाज में अधिक सम्मान हो। अथवा इससे ठीक उलट, धन की विद्या की अपेक्षा अधिक सम्पन्न होने लगा। इसी प्रकार यह भी हो सकता है कि शुद्ध कुछ वाले लोगों का मिश्रिम कुल वाले लोगों की अपेक्षा अधिक सम्मान हो, जिस प्रकार प्राचीनकाल में ब्राह्मण्णों का भारतीय वर्गो में अधिक सम्मान होता था, इसी प्रकार रक्त शुद्वता का भी समाज में अधिक सम्मान होने लगा।

यह याद रहें कि सामाजिक मूल्य निर्धारण के आधार पर भिन्न–भिन्न समाजों में और कभी–कभी एक ही समाज में भिन्न–भिन्न कालों में भी पर्याप्त भिन्नता होती है। रक्त

श्रेष्ठता के भाव की पश्चिमी यूरोप में बहुत मान्यता थी। परन्तु आज यदि व्यक्ति में अन्य गुण न हो तो केवल रक्त शुद्धता को कोई महत्व हीं नहीं देता। सामान्ती जमाने में तो भूमि ही सामाजिक प्रतिष्ठा या साधन और आधार थी, परन्तु आज स्थिति बदल गयी है।

क्या वर्ग केवल आर्थिक असमानताओं पर ही आधारित हैं ?

काल मार्क्स का विचार था कि केवल आर्थिक असमानताओं पर ही आधारित है। उसने वर्ग था कि वर्ग केवल आर्थिक असमनाओं पर ही आधारित है। उसने वर्ग का अर्थ उन आर्थिक समूहों से लिया है। कि जो उत्पादन के साधनों के आधार पर एक दूसरें से भिन्न है। अतः सामाजिक स्तरीकरण की आधार आर्थिक असमानताएं ही हैं। पहले भूमिगत और खेतीकारी होते थे और अब उद्योपगति और मजदूर हैं।

परन्तु मैकाईवर और पेज इस विचार से सहमत है नहीं है। वर्ग केवल अपने आर्थिक असमानताओं पर नहीं बल्कि सामाजिक स्थितियों पर आधारित है। उनके विचार में धन कारणों में से एक तो हो सकता है। परन्तु अकेला एक कारण नहीं। वर्ग का मूल तत्व सामाजिक चेतना है, इसलिए आर्थिक असमानताओं के आधार पर उन्हें विभिन्न नहीं किया जा सकता। मेकवाईवर ने कहा है ''जब तक लोग एकता या विभिन्नता को महसूस न करें। केवल आर्थिक विभिन्नताएं उन्हें एक या अलग होने पर मजबूर नहीं कर सकती। मार्क्स का विचार एक तरफा है। उसने वर्ग के बाह्य पहलू पर जो जोर डाला है परन्तु आन्तरिक पहलू पर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया।

वर्ग का विकास :

सभ्यता के आंरभिक कालों में अर्थात् आदिकालीन असभ्य कबीलों में सामाजिक वर्गो का पता नहीं चलता। इसका कारण यह है कि आदिकालीन असभ्य सर्वदा जीवन संघर्ष में ही

व्यस्त रहा। वह कभी भी सम्पन्न न हो सकता। हॉबहाऊस लिखता है कि उसके (वर्ग के) अपने सदस्यों और बाहर के लोगों में सदा ही अंतर रहा और स्त्री–पुरुष के अधिकारों में भी थोड़ा बहुत अंतर रहा ही है। अन्यथा उसके नैतिक जीवन का निर्माण करने वाले कर्तव्यों में पर्याप्त समानता है। दूसरे शब्दों में असभ्य कबीलों में पद का समानता थी। समूह विशेष के पद (सामाजिक स्थान) में कोई भेद नहीं था। उस काल में सम्पत्ति होती थी कि उसके आधार पर अमीर या गरीब में परस्पर भेद नहीं किया जाता है।

दास प्रथा का उदय :

परन्तु जैसे–जैसे असभ्य कबीले सभ्य होते जाते है, उनकी सैनिक शक्ति बढ़ती जाती है। इसका पहला परिणाम यह होता है कि लड़ाई में पराजित शत्रुओं को विजेता खा लेते है, कष्ट देते है या मार डालते है। कुछ समय पश्चात् जब स्वभाव में कुछ नर्मी और परस्पर सामंजस्य स्थापित हो जाता है तो युद्ध–बंदियों को मारा या खाया नहीं जाता वरन् उन्हें क्षमादान देकर दास बना लिया जाता है। पहले–हपले केवल स्त्रियों और बच्चों को ही क्षमादान देकर दास बनाया जाता था परन्तु धीरे–धीरे पुरुष कैदियों को भी दास बनाया जाने लगा। इसके फलस्वरूप विजेता कबीले के अधिकार क्षेत्र में ही एक दासवर्ग भी पैदा हो गया। इस वर्ग को कुछ भी अधिकार प्राप्त नहीं थे। दास को कोड़े मार जा सकते थे, वह बेचा जा सकता था अथवा मार डाला जा सकता था।

शिल्पी संघ प्रथा :

आधुनिक वर्ग उस मध्य युगीन वर्ग रचना के विकसित रूप ही है समाज में सामन्त या जमींदार सबसे उंचे माने जाते थे और किसान या खेतिहार मजदूर का सबसे निम्न स्थान था। इस दोनों के बीच में घरेलू नौकरों, सैनिकों, यौद्धाओं और कारीगारों का एक अन्य वर्ग भी था। ग्यारवीं शताव्दी के आसपास कारीगर या शिल्पी और छोटे व्यापारी लोगों ने मिलकर उन नगरों में सत्ता कायम कर ली जो नगर सामन्तों जमींदारों और राजाओं के

नियंत्रण में तब तक नहीं आ सके थे। नगरवासियों ने अपने आपकों शिल्पी संघों में संगठित कर लिया और यह शिल्पी संघ तथा युगीन समाज में आर्थिक ढांचे में ही एक अन्य वर्ग होता था। इसके अतिरिक्त शिल्पी, वकीन डाक्टर और पूंजीपति भी उच्च वर्ग का अंश बन गये। यह लोग आम तौर पर यहूदी होते थे।

मध्यवर्गीय प्रणाली :

अठाहरवी और उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यवर्गीय लोग, मध्यकालीन नगरवासियों कारीगरों और शिल्पियों के सीधे वंशज थे। मध्यवर्गीय मानव में यूरीपयी महाद्वीप में अपने राजनैतिक अधिकारों की प्राप्ति के लिए लड़ाई प्रारंभ की परन्तु यह अधिकार उसे फ्रांस की क्रांति ने ही प्रदान किये। इंग्लैंड में भी उनके सुधार–अधिनियम संधि पारित हुए जिनके मध्यवर्ग के व्यक्ति को सम्मानर्पूण स्थान मिला।

पूंजीपति और मजदूर वर्ग :

औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप मध्यकालीन समाज के ढांचे में परिवर्तन आया और समाज स्पष्ट रूप से पूंजीपति और मजदूर, दो वर्गो में बांटा गया। पूंजीपतियों के हाथ में उत्पादन के साधन होने के कारण उनके पास राजनैतिक शक्ति और समाज में उनकी विशेष निष्ठा थी। मजदूर वर्ग कारखानों आदि में काम करने वाले मजदूर थे जो कि धन सम्पत्ति से वंचित, सभी प्रकार के साधनों से दूर और अपने निजी श्रम की पैदावार के बारे में कुछ भी कर सकने में असमर्थ थे उनके पास अपनी मेहनत के सिवाय बेचने के लिए और कुछ भी नहीं था।

मध्यकालीन धनी समाज जोकि कुलीन वंश परम्परा पर आधारित था, की अपेक्षा आधुनिक पूंजीपति वर्ग कम एकताकारक है। नवीन पूंजीपति वर्ग किसी विशेष कुल से पैदा नहीं हुआ। समाज के अन्य स्तरों से आने वाले नये सदस्यों को इस वर्ग ने शायद ही कभी विरोध किया हो। कोई भी मजदून अपनी व्यावसायिक वृत्ति और आगे बढ़ने की प्रवृति

से प्रगति करके पूंजीपति बन सकता है और उसके सामाजिक तौर पर ऊँचा उठने पर कोई प्रतिबंध नहीं है। वास्तव में कुछ लोग उपर उठने और महत्व प्राप्त करने में सफल भी हो गये है। रॉकफेलर, कार्नेगी, हैनरी फोर्ड और बिड़ला आदि ऐसे लोग है जो अपनी व्यावसायिक सूझबूझ और सर्तकता के कार्य करने के कारण ही समाज में सर्वोच्च पद प्राप्त कर चुके है।

मध्य वर्ग :

समाज में पूंजीपति और मजदूर या अमीर और गीरब वर्गो में विभाजन अन्तिम विभाजन नहीं है। मध्यम वर्ग नाम से एक और वर्ग भी बना जिसमें पूंजीपति और मजदूर के प्रीचन साहित्यिक द्वैतवाद को ही बदल डाला। परन्तु यह मध्यवर्ग उस मध्ययुगीन मध्यवर्ग से भिन्न था जिसमें व्यापारियों का प्राधान्य होता था और जो केवल एक सजातीय वर्ग था और आज का मध्यम वर्ग विजातीय या विषय वर्ग है जिसमें व्यापारियों के अतिरिक्त डाक्टर, इन्जीनियर, अध्यापक, शिल्पकार तथा और भी अनेक सफेदपोश काम करने वाली शामिल है और जिनकी प्रतिदिन संख्या बढ़ती जा रही है। जैसाकि नाम से पता लगता है कि मध्यम वर्ग पूंजीपति और मजदूर दोनों के बीच का वर्ग है। यह पूंजीपति से नीचे और मजदूर से उपर है और पहले वर्ग से निम्न और द्वितीय (मजदूर) वर्ग से उच्चकोटि का वर्ग है।

5.3 सारांश :

- अपने गिर्द देखने पर प्रतीत होता है कि समाज असमान प्रकृति वाला है। कहीं अमीर है, कहीं गरीब, कहीं व्यपारी है कहीं कृपीकार और इसी तरह विजेता और कामी लोग भी है। समाज हर जगह आर्थिक, सामाजिक राजनीतिक और धार्मिक वर्गो में विभाजित है। सामाजिक स्तरीकरण का अर्थ है समाज का विभिन्न वर्गो में

वर्गीकरण।

- सामाजिक स्थिति प्राप्त कर्ता के लिए, व्यक्गित गुणों और समाज सेवा के बिना भी, इज्जत, प्रतिष्ठा और प्रभाव का निश्चय करती है। इसमें कुछ सामाजिक विशेषाधिकारों का सम्मिश्रण होता है।
- भारतवर्ष में जाति–पाति की प्रथा भी एक विशेष प्रथा ही है। एक तो इसका सम्बन्ध आर्थिक असमानताओं से है। पुरातन समय के चार वर्णो से जातियों में र्का विभाजन स्पष्ट हो जाता है। जातियां भारत में कार्यकारी समूह भी है।
- समाज की जाति–पाति सम्बन्धी रचना, सोपानत्मक संगठन, धर्माध्यापक के प्रभुत्व अथवा अधीनता की प्रणाली है। जिसके अन्तर्गत लोगों को आपस में ऊँच–नीच के नियम के अनुसार इकट्ठा किया जाता है। इस प्रणाली में सबसे ऊँचा स्थान ब्राह्मण को मिलता है और सबसे निचले स्थान पर शुद्र होते है।
- जाति–प्रथा ने काम या व्यवसाय को स्थायी रूप दे दिया है। व्यक्ति काम–धंधे को अपनी इच्छा और अपनी पसन्द के अनुसार छोड़ या अपना नहीं सकता और उसे अपनी जाति के निश्चित व्यवसाय को ही करना पड़ता है, भूले ही वह उसे पसन्द हो अथवा नापसन्द हो। इससे समाज की गतिशीलता ही समाप्त हो जाती है।
- जाति प्रथा से अस्पृश्ता फैलती है। महात्मा गांधी के मतानुसार यह जाति–पाति की सर्वाधिक घृणित अभिव्यक्ति है। इससे देश का अधिकांश भाग पूर्ण दासता के लिए मजबूर हो जाता है
- देश की एकता के लिये जाति–पाति बाधा सिद्ध हुई है। निचले वर्ग के लोगों के साथ समाज में जो अपमानजनक व्यवहार होता है उसके कारण वे असंतुष्ठ रहते है।
- जाति–पाति राष्ट्र की सामाजिक और आर्थिक प्रगति में बड़ी भारी रूकावट है। लोग धर्म सिद्धांत में विश्वास करने के कारण रूढ़िवादी बन जाते है। राष्ट्र की तथा

भिन्न–भिन्न समूहों और वर्गो की आर्थिक स्थिति ज्यों ही रहती है इससे उनमें निराशा और आलस्य पैदा होकर उनकी आगे बढ़ने और कार्य करने की वृति ही नष्ट हो जाती है।

- सामाजिक वर्ग अपनी सामाजिक स्थिति के बाकी समुदायों से अलग है।
- सामाजिक वर्ग समाज में समान स्तर वाले लोगों का समूह है।
- सांस्कृति के आधार पर मिली समान स्थिति या स्तर वाले समूह हो सामाजिक वर्ग कहते है।
- वर्ग, समान, वंश, समान व्यवसाय, समान धन और शिक्षा, समान विचार, भावनाएं और समान व्यवहार रखने वाले लोगों का समूह है।
- काल मार्क्स ने वर्ग था कि वर्ग केवल आर्थिक असमनाओं पर ही आधारित है। उसने वर्ग का अर्थ उन आर्थिक समूहों से लिया है। परन्तु मैकाईवर और पेज इस विचार से सहमत है नहीं है। वर्ग केवल अपने आर्थिक असमानताओं पर नहीं बल्कि सामाजिक स्थितियों पर आधारित है।
- असभ्य कबीलों में पद का समानता थी। समूह विशेष के पद (सामाजिक स्थान) में कोई भेद नहीं था। उस काल में सम्पत्ति होती थी कि उसके आधार पर अमीर या गरीब में परस्पर भेद नहीं किया जाता है।
- समाज में पूंजीपति और मजदूर या अमीर और गीरब वर्गो में विभाजन अन्तिम विभाजन नहीं है। मध्यम वर्ग नाम से एक और वर्ग भी बना जिसमें पूंजीपति और मजदूर के प्रीचन साहित्यिक द्वैतवाद को ही बदल डाला। यह पूंजीपति से नीचे और मजदूर से उपर है ।

5.3 सूचक शब्द :

सामाजिक स्तरीकरण : सामाजिक स्तरीकरण समाज का उच्च और निम्न भागों में सामान्तर विभाजन है। सामाजिक स्तरीकरण समाज का उच्चता और निम्नता के संबंधों से बचा हुआ स्थायी समूहों में विभाजन है। सामाजिक स्तरीकरण सामाजिक स्थिति की रूढ़ियों में विभिन्नता की प्रणाली है। इसमें रहने वाले लोगों को सामाजिक गतिविधियों के अनुसार उच्च, निम्न या समान माना जाता है।

सामाजिक स्तरीकरण के माक्सिस्ट सिद्धांत : सामाजिक वर्ग उत्पादन के साधनों से संबंधित है और उत्पादन के साधनों पर ही निर्भर होते है। मार्क्स ने समाज को दो वर्गो में बांटा है कामकाजी और धनी कामकाजी वर्ग गरीब और धनी वर्ग पूंजीपती लोगों का प्रतिनिधित्व करती है व्यक्ति को उत्पादन के साधनों से संबंधित मानकर यह सिद्धांत वर्ग–चेतना को जन्म देता है।

सामाजिक स्तरीकरण के कार्यात्मक सिद्धांत : यह सिद्धांत कार्यात्मकता की सामान्य भावना पर आधारित है। ऐसा कोई समाज नहीं है जिसमें स्तर नहीं है विभिन्न लोगों को विभिन्न प्रकार के काम दिए गए है जिसका परिणाम होता है वर्ग विभाजन और सामाजिक स्तरीकरण।

जाति–पाति : भारतवर्ष में जाति–पाति की प्रथा भी एक विशेष प्रथा ही है। एक तो इसका सम्बन्ध आर्थिक असमानताओं से है। पुरातन समय के चार वर्णो से जातियों में र्का विभाजन स्पष्ट हो जाता है। जातियां भारत में कार्यकारी समूह भी है।

जाति में विवाह : विवाह जाति–पाति प्रणाली का सबसे महत्वपूण्र लक्षण है। वेस्टरमार्क के विचार में यह जाति की मुख्य विशेषता है। इस नियम के अनुसार हर व्यक्ति को केवल अपनी ही जाति में और यदि उसकी जाति में कोई उपजातित हो तो उस उपजाति या गोत्र में ही विवाह करने की आज्ञा है।

समाज का वंश पारम्परिक ढांचा : समाज की जाति–पाति सम्बन्धी रचना, सोपानत्मक

संगठन, धर्माध्यापक के प्रभुत्व अथवा अधीनता की प्रणाली है। जिसके अन्तर्गत लोगों को आपस में ऊँच–नीच के नियम के अनुसार इकट्ठा किया जाता है। इस प्रणाली में सबसे ऊँचा स्थान ब्राह्मण को मिलता है और सबसे निचले स्थान पर शुद्र होते है।

अस्पृश्यता : जाति या प्रथा से अस्पृश्ता फैलती है। महात्मा गांधी के मतानुसार यह जाति–पाति की सर्वाधिक घृणित अभिव्यक्ति है। इससे देश का अधिकांश भाग पूर्ण दासता के लिए मजबूर हो जाता है

राष्ट्रीयता में रूकावट : देश की एकता के लिये यह बाधा सिद्ध हुई है। निचले वर्ग के लोगों के साथ समाज में जो अपमानजनक व्यवहार होता है उसके कारण वे असंतुष्ठ रहते है।

अप्रजातान्त्रिक प्रथा : क्योंकि जाति–प्रथा के अन्तर्गत जाति, रूप, रंग और वंश का विचार किये बिना सब लोगों को उनके समान अधिकार प्राप्त नहीं होते इसलिये यह अप्रजातान्त्रिक है। निम्न वर्गो के लोगों के मार्ग में विशेष रूप में रूकावटे डाली जाती है उन्हे बौद्धिक, मानसिक और शारीरिक विकास की पूर्ण स्वतंत्रता नहीं दी जाती और न ही उसके लिये अवसर ही प्रदान किये जाते है।

सामाजिक वर्ग : सामाजिक वर्ग किसी समाज में निश्चित रूप से समान सामाजिक प्रतिष्ठा वाले लोगों को एकत्रित स्वरूप को कहते है। यह समुदाय का एक भाग अथवा ऐसे लोगों का एकत्रण है। जिनका आपस में एक दूसरे के साथ समानता का सम्बन्ध या व्यवहार होता है और जो समाज के अन्य भागों से मान्यता और स्वीकृत प्राप्त ऊँच–नीच के स्तरों के आधार पर स्पष्ट रूप से भिन्न होते है।

आर्थिक असमानताओं पर आधारित : काल मार्क्स का विचार था कि वर्ग केवल आर्थिक असमानताओं पर ही आधारित है। उसने वर्ग था कि वर्ग केवल आर्थिक असमनाओं पर ही आधारित है। उसने वर्ग का अर्थ उन आर्थिक समूहों से लिया है। परन्तु मैकाईवर और पेज

इस विचार से सहमत है नहीं है। वर्ग केवल अपने आर्थिक असमानताओं पर नहीं बल्कि सामाजिक स्थितियों पर आधारित है।

दास प्रथा का उदय : असभ्य कबीलों की बढ़ती सैनिक शक्ति का पहला परिणाम यह होता है कि लड़ाई में पराजित शत्रुओं को विजेता खा लेते है, कष्ट देते है या मार डालते है। कुछ समय पश्चात् उन्हें क्षमादान देकर दास बना लिया जाता है। पहले–हपले केवल स्त्रियों और बच्चों को ही क्षमादान देकर दास बनाया जाता था परन्तु धीरे–धीरे पुरूष कैदियों को भी दास बनाया जाने लगा।

पूंजीपति और मजदूर वर्ग : औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप मध्यकालीन समाज के ढांचे में परिवर्तन आया और समाज स्पष्ट रूप से पूंजीपति और मजदूर, दो वर्गो में बांटा गया। पूंजीपतियों के हाथ में उत्पादन के साधन होने के कारण उनके पास राजनैतिक शक्ति और समाज में उनकी विशेष निष्ठा थी। मजदूर वर्ग कारखानों आदि में काम करने वाले मजदूर थे जो कि धन सम्पत्ति से वंचित, सभी प्रकार के साधनों से दूर और अपने निजी श्रम की पैदावार के बारे में कुछ भी कर सकने में असमर्थ थे उनके पास अपनी मेहनत के सिवाय बेचने के लिए और कुछ भी नहीं था।

मध्य वर्ग : मध्यम वर्ग पूंजीपति से नीचे और मजदूर से उपर है ।

5.4 स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न :

1 जाति की अवधारणा पर विस्तार से चर्चा करें। उत्तर के समर्थन में पर्याप्त उदाहरण भी दें।

2 वर्ग की अवधारणा पर विस्तार से लिखिए। उत्तर के समर्थन में पर्याप्त उदाहरण भी दें।

5.5 संदर्भित पुस्तकें :

जन संचार मे स्नातक पाठ्यक्रम – द्वितीय वर्ष

समाजशास्त्र – बी एम सी 106

खण्ड ब इकाई दो पाठ संश्या 6

सामाजिक परिवर्तन : अवधारणा, प्रक्रियाएं और कारक

लेखकः प्रो0 एम एल गोयल ।

गोंर्वमेंट कॉलेज, हिसार ।

वैटरः प्रो0 बी के कुठियाला ।

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र ।

सिम शैली में परिर्वतनः श्री मिहिर रंजन पात्र ।

वरिष्ठ व्याख्याता, गुरु जम्भेश्वर विश्वविद्यालय, हिसार।

अध्याय संरचनाः

इस अध्याय में सामाजिक परिवर्तन के अवधारणा, प्रक्रियाएं और कारकों के बारे में चर्चा करेंगे। अध्याय की संरचना इस प्रकार रहेगी :

6.0 उद्देश्य

6.1 परिचय

6.2 विषय वस्तु की प्रस्तुति

6.2.1 सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा

6.2.2 सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाएं

6.2.3 सामाजिक परिवर्तन के कारक

6.3 सारांश

6.4 सूचक शब्द

6.5 स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

6.6 संदर्भित पुस्तकें

6.0 उद्देश्य :

इस अध्याय के उद्देश्य इस प्रकार हैंः

- सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा का परिचयात्मक अध्ययन करना
- सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं के बारे में जानना
- सामाजिक परिवर्तन के कारकों के बारे में जानना

6.1 परिचय :

पिछले दो–तीन दशकों में दुनिया में जो परिवर्तन आया है, अभूतपूर्व है। कहना यह चाहिये कि दुनिया के इतिहास में सामाजिक परिवर्तन की जो गति, हमे देखने मिलती है, निश्चित रूप से वह बहुत धीमी है। इस दुनिया में विपरीत आज जिस आधुनिक विश्व में हम रह रहे हैं है, उसमें नाटकीय परिवर्तन हो रहे है। अब परिवर्तन का दौर शायद तीव्रतम है। इस नयी अवधारणा को ग्लोबेलाइजेशन कहते हैं। जहां हमारे सामाजिक जीवन का विश्वव्यापीकरण हो रहा है वही बढ़ता हुआ नगरीकरण विश्वव्यापीकरण को भी प्रभावित करता है।

एक दूसरी वृहद सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा विकासशील देशों में देखने को मिलती है। यह अवधारणा उदारीकरण की है। सामाजिक संरचना में परिवर्तन इस भांति आ रहा है कि इसकी समुचित व्यख्या करना बहुत कठिन हो गया है। योगेन्द्र सिंह कहते है कि

सामाजिक परिवर्तन का कोई भी अध्ययन आज बहुत जटिल हो गया है। अब समाशास्त्री सामाजिक परिवर्तन का मूल्याकंन वैचारिकी के आधार पर पर करने लगे है।

इधर दूसरी और कुछ समाशास्त्रियों ने सामाजिक परिवर्तन के उद्विकास और प्रगति के साथ जोड़ दिया है। किसे सामाजिक परिवर्तन कहा जाए? उद्विकास या प्रगति को। ये दो अवधारणाएं सामाजिक परिवर्तन की वृहद् अवधारणा को जटिल बना देती है। कहा जाता है कि उद्विकास और प्रगति दोनों ही सामाजिक परिवर्तन है। इससे आगे यह भी कहा जाता है कि क्रांति भी सामाजिक परिवर्तन है। क्रांति की अवधारणा उद्विकास और प्रगति से किस भांति भिन्न है, यह भी एक विवाद का मुद्दा है। वास्तविकता यह है कि जहां एक ओर सामाजिक परिवर्तन दुनियाभर की सामाजिक संरचनाओं का मुहावरा हैं, वहीं इसकी सुस्पष्ट परिभाषा देना भी कठिन है।

इस अध्याय में सामाजिक परिवर्तन के अवधारणा, प्रक्रियाएं और कारकों के बारे में चर्चा करेंगे।

6.2 विषय वस्तु की प्रस्तुति :

अध्याय में विषय वस्तु का प्रस्तुतिकरण इस प्रकार रहेगाः

- सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा
- सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाएं
- सामाजिक परिवर्तन के कारक

6.2.1 सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा :

मनुष्य को इस धरती पर रहते हुए कोई 5 लाख से अधिक वर्ष हो गये है। कृषि और आवास उसके जीवन के साथ कोई 10-12 हजार वर्ष हजार वर्ष पहले जुड़े है।

इतिहासकारों की अटकल है कि दुनिया में सभ्यता का सूत्रपात कोई 6 हजार वर्ष से अधिक पुराना नहीं हैं। आज जब सामाजिक परिवर्तन का मूल्याकंन किया जाता है तो इसे तकनीकी विकास के साथ जोड़ा जाता है। तकनीकी विकास कोयले और बिजली के बाद आज के सूचना युग में तीव्रतम हो गया है। कम्पयूटर सूचनाओं का संग्रहित करने का एक बहुत बड़ा यांत्रिक साधन है। इस वैज्ञानिक आयाम को ध्यान में रखते हुए सामाजिक परिवर्तन का सैद्धान्तिमक विशलेषण किया जाना चाहिए।

सामाजिक परिवर्तन की सैद्धान्तिमक व्याख्या पहले समाजशास्त्र के जनक विचारकों ने की थी। शायद सबसे पहले ई. 1893 में दुर्खीम ने श्रम विभाजन की व्याख्या में सामाजिक परिवर्तन का उल्लेख किया था। दुर्खीम ने पूर्व औद्योगिक समाज की तुलना औद्योगिकरण समाज से की। पूर्व औद्योगिकरण समाजों में सामाजिक स्तरीकरण किसी भी अर्थ में चौकने वाला नहीं था। औद्योगिक समाज में स्तरीकरण अधिक तीव्र हो गया।

इस समाज में मानदण्ड एंव मूल्यों में भी परिवर्तन आ गया। दुर्खीम की पदावली में पूर्व औद्योगिक समाज वस्तुतः यांत्रिक समाज थ्ज्ञा। जब इस समाज का उद्विकास सावयवी समाज में हुआ तक परिवर्तन की गति तीव्र हो गयी। इस परिवर्तन का मूल्याकंन दुर्खीम ने किया है। औद्योगिकरण समाज में जो परिवर्तन देखने को मिलता है वह समानता पर आधारित नहीं है, विभिन्नता या स्तरीकरण पर आधारित है।

कार्ल मार्क्स ने सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या और संदर्श में की है। उन्होंने कहा है कि सामाजिक परिवर्तन का कारण वर्ग संघर्ष हैं मेक्स वेबर भी सामाजिक परिवर्तक की व्याख्या वर्ग के संदर्श में करते है। सामाजिक परिवर्तन को सामान्यता प्रमुख विचारकों ने दी दृष्टियों से देखा है : (1) इतिहासवादी व्याख्या और (2) उद्विकासवादी व्याख्या। यहां हम दोनों दृष्टिकोणों को देखेंगे। वास्तविकता यह है कि विचारकों के अनुसार सामाजिक परिवर्तन के अलग-अलग सोपान है। इन लेखकों के चिन्तन में परिवर्तन, उद्विकास, तथा

प्रगति की अवधारणाएं एक दूसरे से मिली हुई है। सच्चाई यह है कि ये विचारक इन तीन अवधारणाओं (सामाजिक परिवर्तन, उद्विकास एवं प्रगति) को बहुत स्पष्ट रूप से समझा नहीं पाये है।

1. इतिहासवादी व्याख्या :

इतिहासवीदी व्याख्या में सामान्यतया हीगेल एवं मार्क्स की चर्चा की जाती है। हीगेल वास्तव में एक परिपक्व दार्शनिक थे। इसके अनुसार इतिहास में परिवर्तन चेतना के कारण आता हैं सामाजिक परिवर्तन के विचार, परस्पर विरोधी विचार और उनके समन्यव के तीन सोपान होते है। हीगेल की यह व्याख्या विचारों को केन्द्र मानकर चलती है। कार्ल मार्क्स का संदर्श दूसरा है। उन्होंने सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी के संदर्भ में की है। इनके अनुसार उत्पादन साधनों और सम्बन्धों में परिवर्तन के साथ समाज इतिहास के एक काल खण्ड से दूसरे काल खण्ड की ओर बढ़ता है।

2. उद्विकासवादी व्याख्या :

उद्विकासवादी व्याख्या करने वाले विचारकों में कॉम्प, स्पेन्सर, दुर्खीम, सोरोकीन मारग्रेट कीड़ के नाम विशेष रूप से उल्लेखीय है। विचारकों की इस श्रेणी में जहां तक संस्कृति का प्रश्न है। टाइलर ने प्रीमिटीव कल्वर में उद्विकीसीय दृष्टिकोण को भली प्रकार रखा है। उद्विकासवादी विचारकों का कहना है कि विवाह, नातेदारी, राज्य सरकार आदि सामाजिक संस्थाओं के उद्विकास सामान्य गति से होने वाले परिवर्तन का परिणाम है। यहां हम केवल इसी तथ्य पर जोर देना चाहते है कि सामाजिक परिवर्तन के अलग–अलग सोपान है और इन सोपानों की व्याख्या उद्विकास तथा प्रगति के माध्यम की गयी है। टी.बी. बोटोमोर जैसे विचारकों ने तो सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या केवल उद्विकास, प्रगति तथा विकास के संदर्भ में ही की हैं इस अध्याय में आगे चलकर हम तीनों अवधारणों की विशद् व्याख्या

करेंगे।

सामाजिक परिवर्तन की परिभाषाएँ :

समाजशास्त्र की पाठ्यपुस्तकों में सामाजिक परिवर्तन को परिभाषित करने के स्थान पर प्रायः इनके लक्षणों और कारकों का वर्णन किया गया है। कुछ लेखकों की राय में सामाजिक परिवर्तन के अंतर्गत अनेक तरह की सामाजिक समस्याएं सम्मिलित की गयी है। इसका अर्थ समूह अथवा समाज के व्यवहार में किसी भी प्रकार के बदलाव से है। कुछ के विचार में सामाजिक परिवर्तन का अर्थ सामाजिक सरंचना और सांस्कृतिक विशेषताओं अथवा दोनों में टिकाऊ बदलाव से है। इन परिभाषाओं के आधार पर हम कह सकते है कि सामाजिक परिवर्तन मुख्य रूप से समाज के तीन पक्षों को प्रभावित करता है :

1. समूह के व्यवहार में परिवर्तन
2. सामाजिक संरचना में परिवर्तन, और
3. सांस्कृतिक विशेषताओं में परिवर्तन

जब हम सामाजिक परिवर्तन की किसी भी प्रक्रिया में परिवर्तन की बात करते है तो हमारा तात्पर्य उपरोक्त तीन पक्षों में आने वाले बदलाव से हैं।

ऊपर हमने सामाजिक परिवर्तन की जो व्याख्या की है, निश्चित रूप से यह बहुत अस्पष्ट हैं एंथोनी गिडेन्स ने सामाजिक परिवर्तनक की परिभाषा देने से पहले एक सुस्पष्ट प्रश्न रखा है : हमें सामाजिक परिवर्तन को कैसे परिभाषित करना चाहिये? निश्चित रूप से प्रत्येक वस्तु में परिवर्तन होता है और यह परिवर्तन निश्चित सीमा में होता है। देखा जाये तो दार्शनिक लहले में, प्रत्येक दिन हर व्यक्ति के लिये नया होता है और इस अर्थ में प्रत्येक क्षण नया होता है। यूनानी दार्शनिक हेराक्लिलट्स का यह कहना सही हैकि एक व्यक्ति कभी भी एक ही नदी में दो बार डुबकी नहीं लगा सकता। उसके लिये ऐसा कर

सकना दो कारणों से असंभव है। पहला तो यह कि दूसरी बार डुबकी लगाते समय व्यक्ति पहली बार जैसा नहीं रहता। उसके विचार, दृष्टिकोण आदि बदल जाते है और दूसरा यह है कि स्वयं नदी कापानी भी प्रवाहमान है जो पानी बह गया, वह बह गया, वापस नहीं आता। वस्तुतः और नदी दोनों ही बदल जाते है। हेराक्ट्सि के इस दर्शन का केन्द्र यही है कि संसार में प्रत्येक यर्थात वस्तुत बदलती रहती है परिवर्तन सृष्टि का नियम है। यह चिरंतन है। यह दर्शन के प्रतिकूल एक और दर्शन है। इसका प्रतिपादन परमेनिडीज ने किया है। इस दार्शनिक का मत है कि परिवर्तन एक भ्रम है, एक धोखा है। समाज में प्रत्येक वस्तुत ज्यों की त्यों रहती है, वह अपरिवर्तन शील है।

सामाजिक परिवर्तन के प्रति परिभाषाओं को लेकर विवाद है, फिर भी सामाजिक परिवर्तन में कुछ ऐसे तत्व है जिन्हें अभी समाजशास्त्री स्वीकार करते हैं।

सामाजिक परिवर्तन की विशेषताएँ :

सामाजिक परिवर्तन की कुछ विशेषताएं ऐसी है जिनसे कभी समाजशास्त्री सहमत है। ऐसी ही कुछ सामान्य विशेषताओं का उल्लेख हम यहां करेंगे :–

1. सामाजिक सरंचना में परिवर्तन ही सामाजिक परिवर्तन है :

टी.बी. बोटोमोर का कहना है कि सामाजिक परिवर्तन की केन्द्रीय विशेषता सामाजिक परिवर्तन की केन्द्रीय विशेषता सामाजिक संरचना में होने वाला परिवर्तन है। सामाजिक सरंचना अपने आप में बहुत वृहद है। इसके अन्तर्गत सामाजिक संस्थाओं में होने वाले संबंधों और एक संस्था का अन्य संस्थाओं के साथ होने वाला संबंध सामाजिक परिवर्तन की परिधि में आता है इसी सरंचना के आगे सामाजिक मूल्य व मानदण्ड भी होते है।

2. सामाजिक परिवर्तन सामाजिक व सांस्कृतिक दोनों होता है :

हाल में जो समाजाास्त्री साहित्य यूरोप से उपलब्ध है, उसमें बोर्डियों, दरीदा, हेबरमास आदि

विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन समाशास्त्रियों ने पोस्ट मोडरनिटी यानी उत्तर आधुनिकता पर जो कुछ लिखा है उसमें वे कहते हैं कि आज जिस तरह के सामाजिक परिवर्तन को हम देख रहे है वस्तुतः यह सांस्कृतिक परिवर्तन है। इन विचारकों के अनुसार उत्तर आधुनिकता और कुछ न होकर सांस्कृतिक परिवर्तन का एक पेरेडाइम अर्थात् नमूना है। जहां मानवशास्त्रीसामाजिक परिवर्तन को सांस्कृतिक परिवर्तन के रूप में देखते हैं, वहां समाजशास्त्री इसे सामाजिक परिवर्तन की तरह समझते है। संक्षेप में, सामाजिक परिवर्तन की कोख में सांस्कृतिक संबंधों में होने वाले परिवर्तन है जबकि सांस्कृतिक परिवर्तन का मतलब मूल्य, मानक, शिक्षा आदि में होने वाले परिवर्तन से है।

3. आम आदमी के संबंधों में होने वाला परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन है :

समाज में मुट्ठीभर लोगों में, चाहे वे अभिजात, धनाढ्य हों, आने वाला परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन नहीं हैं आज हमारे देश में बहुत सीमित लोगां का प्रतिशत हवाई जहजा से यात्रा करता है या मारूति गाड़ी में सैर–सपाटै करता है, इसे सामाजिक परिवर्तन नहीं कह सकते। सामाजिक परिवर्तन आम आदमी की परिधि में लेता है। जब सामान्य आदमी बदलाव की अनुभूति पाता है, तब ही इसें सामाजिक परिवर्तन कहते है। सामाजिक परिवर्तन तो औसत आदमी में होने वाला परिवर्तन है।

4. सार्वभौमिक परिवर्तन है :

यह निश्चित है कि सामाजिक परिवर्तन एक सामाजिक प्रक्रिया है, जिसकी प्रकृति अनन्त है, जिसका प्रवाह निरन्तर है। इस दृष्टि से यह एक ऐसी सामाजिक प्रक्रिया है जो संसार भर के समाजों में देखने को मिलती है। यहां यह अवश्य कहना चाहिये कि सामाजिक परिवर्तन की गति सार्वभौमिक होकर भी सभी समाजामें में समान नहीं होती। महानगरों की तुलना में दूर–दराज के गांवों में परिवर्तन की गति थोड़ी होती है। इसी तरह विकसित देशों की तुलना में विकासशील देशों में परिवर्तन धीमा होता है। उच्च जातियों की तुलना में आदिम

समाजों व अनुसूचित जातियों में परिवर्तन की गति धीमी होती है। परिवर्तन की गति को छोड़ दे तो निश्चित रूप से सामाजिक परिवर्तन एक सार्वभौमिक सामाजिक प्रक्रिया है।

5. सामाजिक परिवर्तन की एक निश्चित गति होती है :

उपर हमने कहा है कि सामाजिक परिवर्तन सार्वभौमिक होकर भी कोई न कोई गति लिये अवश्य होता है। मौअे तौर पर यह कहा जाना चाहिये कि परिवर्तन की जो गति आज से कोई दो दशक पहले थी वह अब बहुत बढ़ गयी है। संयुक्त राष्ट्र संघ के एक अनुमान के अनुसार किसी भी तकनीकी में बदलाव सात वर्ष्‍ा से दुगना हो जाता है। एक ही समाज तकनीकी क्षेत्र में परिवर्तन की गति तीव्र होती है, उसी में सांस्कृतिक और सामाजिक बदलाव बहुत धीरे आता है।

6. सामाजिक परिवर्तन एक प्रक्रिया के रूप में :

समय विज्ञान की तकनीकी भाषा में परिवर्तन एक न्यूट्रल या तटस्थ पद है। इसके साथ में भले–बुरे का कोई बोध जुड़ा नहीं होता। कुछ विचारकों का कहना है कि सामाजिक परिवर्तन में नियम, सिद्धांत, दिशा और निरन्तरता नहीं पायी जाती है। निरन्तरता की धारण हम तब देखते है जब हम सामाजिक परिवर्तन को एक प्रक्रिया समझते है। इस सम्बन्ध में के.एल. शर्मा का कथन बहुत प्रासंगिक है :

एक परिस्थिति में प्रारंभ से कुछ कारणों के आधार पर जब निश्चित स्वरूपों में निरन्तर परिवर्तन होता है तो हम इसे प्रक्रिया कहते है। संचार, समाजीकरण, व्यवस्थापन, एकीकरण, विघटन, प्रतियोगिता संघर्ष आदि सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं के उदाहरण है। प्रक्रिया के अध्ययन में एक अवस्था से दूसरे तक हम संक्रमणों की एक श्रृंखला का अवलोकन करते हैं। प्रक्रिया की दोनों अवस्थाओं की विशेषता का समान होना आवश्यक है। एक ही दिशा का अनुसरण सामाजिक परिवर्तन में नहीं किया जाता हैं प्रक्रिया उपर है। एक ही दिशा का अनुसरण सामाजिक परिवर्तन में नहीं किया जाता है। प्रक्रिया उपर या नीचे

की तरफ, आगे या पीछे की ओर, प्रगति या अधोगति की दिशा में भी हो सकती है। अतः प्रक्रिया का तात्पर्य एक निश्चित दिशा परकता के साथ एक अवस्था से दूसरी अवस्था की ओर गति से है। प्रक्रियाएं व्यवस्था–समर्थनकारी और व्यवस्था–रूपान्तरणकारी दोनों होती है।

यदि हम परिवर्तन को एक तटस्थ अवधारणा के रूप में लेते है और यह स्वीकार करते हैं कि यह एक सामाजिक प्रक्रिया मात्र है, तो कहना होगा कि परिवर्तन का तात्पर्य निश्चित रूप से प्रगति या उन्नति नही है। यह अधोगति भी हो सकती है। आज भारतीय समाज में जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में जो क्षरण हो रहा है उसे भी सामाजिक परिवर्तन ही कहेंगे। सामाजिक परिवर्तन की रेखा ऐसी है जो उपर की ओर बढ़ सकती है लेकिन नीचे जाने से कोई इसे थाम नहीं सकता। वस्तुतः समाज में अच्छा हो या बुरा, सभी सामाजिक परिवर्तन है।

7. सामाजिक परिवर्तन में मूल्य बोध होता है :

योगेन्द्र सिंह ने भारतीय परम्पराओं के आधुनिकीकरण की व्याख्या में आग्रहपूर्वक तर्क दिया है कि आधुनिकीकरण की अवधारणा में मूल्य ठसा–ठस भरे होते है। विचारधारा का बाहुल्य होता है। इसी अन्दाज में उनका तर्क है कि सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में भी मूल्यों का भरपूर समावेश होता है। मूल्य और मानदण्ड सामाजिक परिवर्तन के बुनियादी आधार है। जब हम कहते है कि किसी समाज में प्रगति हुई है तो इसमें समाज के कतिपय मूल्य निहित है। प्रगति से हमारा तात्पर्य शिक्षा के प्रसार, तकनीकी या अधिकतम प्रयोग, पूंजीवादी अर्थ व्यवस्थ्ाा, आदि से जुडे हुए मूल्यों से है। जहां कहीं सामाजिक परिवर्तन का मूल्याकंन होता है तो इसे मूल्यांकन का पैमाना मूल्य और मानदण्ड होते है।

8. समय व सामाजिक परिवर्तन सिक्के के दो पहलू है :

सामाजिक परिवर्तन और समय एक दसूरे से जुड़े हुए है। जब हम सामाजिक परिवर्तन की चर्चा करते है तो समाज को हम समय में दो विभिन्न बिन्दुओं पर देखते है और उनकी

तुलना करने के बाद परिवर्तन के विषय में निष्कर्ष निकालते है।

9. सामाजिक परिवर्तन अचानक भी हो सकता है :

यह ठीक है कि सामान्यतया सामाजिक परिवर्तन योजनाबद्ध होता है। हमारे देश में सामाजिक परिवर्तन को पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा लाने का प्रयास किया जा रहा है। यूरोप के कई देशों में सामाजिक परिवर्तन को निश्चित योजनाओं के द्वारा अमल में लाया जाता है, लेकिन हमेशा ऐसा होता है, यह नही है। कभी–कभी परिवर्तन एकाएक भी आ जाता है। भूकम्प, महामारी, युद्ध और राज्य क्रांतियों के द्वारा हुए परिवर्तन को इस श्रेणी में रखा जा सकता है। हमारे देश में महाराष्ट्र के लातूर जिले में भूकम्प ने सामाजिक परिवर्तन ने एक क्रांतिकारी दौरे को प्रसतुत कर दिया। सूरत (गुजरात) में हैजे की महामारी ने, सम्पूर्ण शहर के रख–रखाव में भारी बदलाव पैदा कर दिया। इसत तरह का परिवर्तन बाढ़ के कारण भी आता है।

6.2.2 सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाएँ :

पिछले पृष्ठों में हमने इस तथ्य को बिल्कुल प्रस्तुत किया है कि सामाजिक परिवर्तन एक प्रक्रिया है। इसका सीधा अर्थ यह है कि सामाजिक परिवर्तन कभी समाप्त नहीं होता है। इसमें निरन्तरता होती है टी.बी. बोटोमोर ने सामाजिक परिवर्तन की मोटभ–मोटी प्रक्रियाओं का उल्लेख अपनी पुस्तक सोशियोलोजी में किया है। उन्होंनें सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं को ऐतिहासिक दृष्टि से देखा है। वे कहते है कि शुरू से ही समाजशास्त्र का संबंध इतिहास के दर्शन और यूरोपयी समाजों में होने वाले तीव्रतम और हिसांत्मक परिवर्तन से जुड़ा रहा है। देखा जाये तो 18वीं और 19वीं शताब्दी में यूरोप में जो सामाजिक और राजनीतिक क्रांतियों हुई, उनका विश्लेषण स्कॉटलैण्ड के इतिहासकारों (फर्ग्युसन, रोबेरट्सन) फ्रांस के दार्शनिकों (वोल्टटेयर, टारगेट) और जर्मनी के इतिहासकारों

(हेरडर, हीगले) आदि ने इतिहास के सामान्य सिद्धांत में सामाजिक परिवर्तन की विभिन्न प्रक्रियाओं की विशद् व्याख्या की है। इन दार्शनिक और इतिहासकारों का प्रभाव सेण्ट साइमन, बकल, क्रॉम्ट, मार्क्स तथा स्पेन्सर की कृतियों में देखने को मिलता है। मार्क्स और स्पेन्सर के अतिरिक्तदुर्खीम आदि ने भी सामाजिक परिवर्तन की विविध प्रक्रियाओं का उल्लेख किया है।

सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं में यानि सामाजिक प्रक्रिया किन आयामों में गुजरती है, इसका उल्लेख इन सभी समाजशास्त्रियों ने किया है। मुख्यतया ये सामाजिक प्रक्रियाएं पांच है : 1. उद्विकास, 2. विकास, 3. प्रगति, 4. सुधार तथा, 5. क्रांति है।

उद्विकास :

उद्विकास की अवधारणाा का सीधा संबंध जैवकीय उद्विकास से है। 19वीं शताब्दी के समाजशास्त्रीयों ने उद्विकास की अवधारणा का प्रयोग बहुत अधिक किया है। यह सब होते हुए भी इन लेखकों ने उद्विकास में निहित अर्थ को कोई अधिक स्पष्ट नहीं किया है। इन शताम्बदी में प्राणिशास्त्री डार्विन का प्रभाव प्राकृतिक विज्ञानों के अतिरिक्त समाज वैज्ञानिकों पर भी बहुत अधिक था। इन उद्विकासवादी प्राणिशास्त्रीयों ने यह स्थापित किया कि मनुष्य का उद्विकास जीवाश्य से हुआ है। ये जीवधारी पानी में निवास करते थे, फिर जमीन पर आये, इसके बाद पेड़ों पर। पेड़ों पर रहने वाले ये वानर गुफाओं में मिले और इस तरह सिलसिले से लाखों वर्षो में चलकर मानव आया। डार्विन ने यह भी स्थापित किया कि वंशानुक्रमण की प्रक्रिया में मनुष्य के शारीरिक लक्षणों में आधे से थोड़े अधिक लक्षण अपने माता–पिता से मिलते है, आधे से थोड़े कम लक्षण दादा, परदादा आदि से मिलते है। इस प्राणिशास्त्रीय उद्विकास का प्रमुख कॉम्ट, मार्क्स, स्पेन्सर और दुर्खीम पर भी पड़ा। सामाजिक उद्विकास को समाज वैज्ञानिकों ने सामाजिक डार्विनवाद का नाम दिया। सामाजिक

डार्विनवादियों में वेस्टरमार्क की द हिस्ट्री ह्युन मेरिज अग्रणी है। इस पुस्तक के तीन खण्ड है और इससे वेस्टरमार्क ने विवाह के उद्विकास को क्रमबद्ध रूप में रखा है।

जिस तहर विभिन्न प्राणियों का उद्विकास हुआ, कुछ इसी तरह स्पेन्सर ने कहा कि सामाजिक संस्थाओं का उद्विकास भी हुआ। स्पेन्सर ने अपनी पुस्तक सामाजिक स्थैतिक में विस्तारपूर्वक समाज को एक सावयव की तरह उसके उद्विकासीय रूप में रखा है। उन्होंने उद्विकास का तात्पर्य संशोधन के साथ वंश की व्याख्या के रूप में किया है। सामाजिक डार्विनवाद की परम्परा में टाइलर ने भी उद्विकास की अवधारणाा का प्रयोग किया है।

हाल में उद्विकासवादियों ने जो कार्य किया है, उसमे वे प्राणिशास्त्रीकय सिद्धांत तथा विभिन्न सामाजिक उद्विकास सिद्धांतों के अन्तर को स्पष्ट करते है। आग्बर्न यद्यपि पूरी तरह से सामाजिक उद्विकास से सहमत नहीं है, फिर भी कहते है कि इस सिद्धान्त ने सामाजिक संस्थाओं के गहन अध्ययन में सहायता दी है। इस पीढ़ी के समाजशास्त्रियों ने यह तो स्वीकार किया है कि प्राणीशास्त्रीय उद्विकास और सामाजिक उद्विकास की धारणाा में अभाव तो बहुत है, फिर भी सामाजिक संस्थाओं के संबंध में हमारी सोच ताकतवर अवश्य बनती है।

विकास :

जिस भांति सामाजिक उद्विकास की अवधारणा बहुत अधिक स्पष्ट नहीं है, ठीक इसी तरह विकास की अवधारणा भी स्पष्ट है। बोटोमोर ने विकास के अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहा है कि इसके माध्यम से हम वस्तुओं को पूरी तरह से विकसित अवस्था की ओर ले जाते है। यहां इस अर्थ में भी कठिनाई है। विकास से हमारा क्या तात्पर्य है? कुछ लोग जिसे विकास कहते है दूसरों की दृष्टि में शायद वह पतन है। दूनियाभर में विकास की अवधारणा के अर्थ को लेकर एक बहुत बड़ा विवाद चल रहा है। आज तकनीकी विकास के युग में

बड़े–बड़े बांध बनाये जा रही है, पहाड़ों को भेद कर बड़ी–बड़ी टनेल बनायी जा रही है, गहरे समुद्र में मछलियां पकड़ी जाती है, और ऐसे ही अगणित कार्य विकास के नाम पर किये जा रहे है। सरकारे भी इसे विकास के नाम पर पुकारती है। लेकिन दूसरी और पर्यावरणवादी है जो तथाकथित विकास को केवल पतन या प्रदूषण मानते है। महत्वपूर्ण बात यह है कि विकास के समाज के मूल्य जुड़े होते है तो इसे विकास कहते है। हाल में जो अनुसेधान साहित्य समाजशास्त्र में आ रहा है, उसमें विकास का तात्पर्य औद्योगिकरण, पूंजीवादी, नगरीकरण आदि से लिया जाता है। इस अर्थ में समाज शास्त्री दुनियाभर के समाजों को दो श्रेणियों में बांट्ते है। एक श्रेणी में वे समाज हैं जो औद्योगिक दृष्टि से बहुत अधिक विकसित है, इनमें यूरोप और अमरीका के देश सम्मिलित है, दूसरी और समाजों की वह श्रेणी है जो प्रायः ग्रामीण और कृषि प्रधान है। पहली श्रेणी के समाजों में जिन्होंने विकास के लक्ष्य को प्राप्त कर लिया है औद्योगिक व आधुनिक है और दूसरी श्रेणी के समाज विकास की दौड़ में लगे हुए है लेकिन इन समाजों की अर्थव्यवस्था अब भी कृषि प्रधान है। इन समाजों में गरीबों की संख्या अधिक होती है।

समाजशास्त्री यह भी कहते है कि विकास की जो प्रक्रिया आज विकासशील देशों में चल रही है वह निश्चित रूप से उन्हीं स्तरों पर, जिन पर विकसित देश चल रहे हैं, चलेंगे। यह भी संभव है कि विकासशील देशों को विकास की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप कई अन्य समस्याओं के साथ जूड़ना पड़े। हाबहाऊस ने उद्विकास के स्थान पर सामाजिक विकास की अवधारणाा का प्रयोग किया है। इनके अनुसार सामाजिक विकास की चार मुख्य कसौटिया है। इन कसौटियों को वे विकास के लक्षण मानते है :

1. **मात्रा** : यानी संख्यात्मक रूप से समाज के विभिन्न क्षेत्रों में वृद्धि। हाब हाऊस विकास और वृद्धि दोनों को समानार्थक समझते है।

2. **कुशलता** : इसमें उद्योग में कार्यरत लोग कुशल होते है। ऐसे समाज में बौद्धिकों

और वैज्ञानिकों विशेषज्ञों का योगदान बहुत अधिक होता है।

3. **पारस्परिकता** : विकास में प्रकार्यात्मक होती है यदि कम्पयूटर विज्ञान में विकास होता है तो इसका प्रभाव उत्पादन, सूचना संचयन और औद्योगिक विकास पर पड़ता है।

4. **स्वतंत्रता** : विकास समाजों को स्वतंत्रता देता है। विकसित समाज एक सीमा पर पहुंच कर स्वायत्त बन जाते है।

प्रगति :

इस अवधारणाा के साथ बड़ी दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति रही है। स्पेन्सर के समय से लेकर आज तक समाजशास्त्रियों का यह प्रयास रहा है कि वे समाजशास्त्र को एक विज्ञान की तरह स्थापित कर सकें। इसी प्रयास में लम्बी अवधि तक समाजशास्त्री समाजशास्त्र को मूल्य विज्ञान बनाने का प्रयास भी करते रहे है। मूल्य मुक्त विज्ञान की अवधारणाा ने प्रगति की अवधारणा का एक तरह से बहिष्कार कर दिया। इस भांति समाजशास्त्र में प्रगति की अवधारणा एक उपेक्षित अवधारणा रही। समाजशास्त्र के पिछले इतिहास में प्रगति की अवधारणा का प्रयोग नहीं के बराकर हुआ है। ऐसा लगता है कि समाशास्त्रियों ने प्रगति की अवधारणा को विकास की अवधारणा के साथ छोड़ दिया है। यहां हम सत्यमित्र दुबे एवं दिनेश शर्मा के कथन को देना प्रासंगिक समझते है :-

प्रगति की अवधारणा पर स्पेन्सर और हाबहाऊस ने विशेष रूप से विचार किया है। स्पेन्सर के चिन्तन में उद्विकास और प्रगति तथा हाबहाऊस के लेखन में विकास और प्रगति की अवधारणाएं मिलीजुली है। अतः इनका विशिष्ट अर्थ स्पष्ट नहीं होता है। ''प्रगति के सिद्धांत और कारण'' पर प्रकाश डालते हुए स्पेन्सर का मत है कि पृथ्वी, जीवन, समाज, सरकार, वाणिज्य, भाषा, साहित्य तथा विज्ञान चाहे जिस क्षेत्र में भी हम प्रगति की धारणा परविचार करें, वह सरल से जटिल, कत, विभेदीकृत से अधिक विभदीकृत और सजातीय से

विजातीय की ओर बढ़ने की उद्विकासीलय सिद्धांत का ही अंग है। ''प्रगति के साथ नैतिक पक्ष भी जुड़े है''। हाबहाऊस के अनुसार आर्थिक विकास और कुशलता के बीच नैतिक रूप से पतन संभव है। प्रगति की धारणा नैतिक उन्नति पर बल देती है। परमाणु उर्जा की खोज विकास की सूचक है। लेकिन इसके साथ मानवीय विनाश की जो आशंका जुड़ी है। वह नैतिक पतन की सूचक है।

सुधार :

सामाजिक सुधार की अवधारणाा वस्तुतः सामाजिक परिवर्तन का बोध देती है। यह भी एक सामाजिक प्रक्रिया है जो धीरे–धीरे सामाजिक परिवर्तन की ओर बढ़ती रहती है। जब समाज की परम्परागत व्यवस्था को जान–बूझ कर परवर्तित किया जाता है तो यह सुधार है। यूरापे के इतिहास में पूरी शताब्दी धार्मिक सुधारों की रही। ये सुधार 18वी–19वीं शताब्दी में हुई। कट्टर धर्मावलम्बी कैथोलिक धर्म में किसी भी सुधार को स्वीकार करने के लिये नहीं थे। इधर दूसरी और प्रोटेस्टेन्ट धर्मावलम्बी यह आन्दोलन उठाये हुए थे कि कैथोलिक धर्म अत्याधिक रूढ़िवादी था और समय के अनुसार उसे बदल जाना चाहिये। धर्म के नाम पर जो आडम्बर थे उनके खिलाफ यूरोप का यह सुधार आन्दोलन था। हमारे देश में भी सुधार आन्दोलन का सूत्रपात लगभग इन्ही शताब्दियों में हुआ। विधवा विवाह को सुधार का एक मुद्दा बनाया गया। यह इसलिये कि विधवाओं का जीवन अपने नाम से एक त्रासदी था। सुधारवादियों ने सती प्रथा के उन्मूलन के लिये भी आन्दोलन किये। इधर गांधीजी ने अछूतोद्धारा के लिये भी आन्दोलन किये। इन अर्थो में सामाजिक सुधार भी एक प्रकार की सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया है।

क्रांति :

तीव्र गति से होने वाले परिवर्तन को क्रांति कहते हैं। जहां विकास में क्रमबद्ध और निरंतर परिवर्तन होता है, वहां क्राति में तीव्र और अव्यस्थित परिवर्तन होता है। समाज में आर्थिक, राजनीतिक तथा धार्मिक समूह होते है। जब किसी एक समूह में क्रांति होती हे तो इसका प्रभाव अन्य समूहों पर भी पड़ता है। फ्रांस, इग्लैण्ड और रूस की राज्यक्रांतियों ने वहां के सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक जीवन को झकझोर दिया। औद्योगिक क्रांति के जीवन के सभी पहुलओं को प्रभावित किया। ली–ब्रोन ने एक स्थान पर क्रांति का मनौवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए कहा है कि जिस देश में सामाजिक संस्थाएं जितनी अधिक रूढ़िवादी होगी, उतना ही शीघ्र वहां क्रांति भी होगी।

क्रांति समाज के किसी भी क्षेत्र में हो सकती है। विज्ञान के क्षेत्र में डीजल इंजिन, नायलोन, टेरेलीन, टेलिवीजन, सेल्यूलर, पेजर आदि जीवन के अन्य क्षेत्रों में किस तरह शीघ्रपात से परिवर्तन कर दिया है वइ हमने छिपा रही है। क्रांति में प्रायः हिंसा का समावेश होता है। पर हमेशा ऐसा होना आवश्यक नहीं है। अहिंसात्मक क्रांति भी होती है और रक्तहीन क्रांति भी होती है। इंग्लैण्ड की क्रांति को इतिहासकार रक्तहीन क्रांति कहते है। हमारे देश में भी ई. 1947 में स्वतंत्रता प्राप्त हुई, वह भी रक्तहीन क्रांति थी।

सामाजिक परिवर्तन के संबंध में महत्वपूर्ण बात यह है कि यह परिवर्तन विभिन्न प्रक्रियाओं के माध्यम से देखा जाता हैं परिवर्तन में महत्वपूर्ण तथ्य परिवर्तन की गति से जुड़ा है। यह गति ही सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया है। यह गति ही सामाजिक परिवर्तन को उद्विकास, विकास, प्रगति या क्रांति बना देती है। यदि सामाजिक परिवर्तन की विभिन्न प्रक्रियाओं का सावधनीपूर्वक तुलनात्मक अध्ययन किया जाए तो पता लगेगा कि सामाजिक उद्विकास की अवधारणाा का स्वरूप जैविक है। इसमें समाज सरल स्तर से उठकर जटिलता की ओर बढ़ता है। इस सामाजिक प्रक्रिया में स्तरीकरण न्यूनतम होता है और समाज में सजातीयता अधिक होती है लेकिन सामाजिक परिवर्तन की इस प्रक्रिया में परिवर्तन तो होता

है। यह अवश्य है कि परिवर्तन की गति धीमी होती है।

सामाजिक परिवर्तन की दूसरी प्रक्रिया विकास की है। यह प्रक्रिया या अवधारणाा अपने स्वरूप में सामाजिक, आर्थिक और प्रौद्योगिकीय होती है। शिक्षा का प्रसार, स्वास्थ्य में सुधार, आर्थिक उत्पादन में वृद्धि और प्रौद्योगिकी में सुधार विकास के सूचक है।

सामाजिक प्रक्रिया का एक और स्वरूप प्रगति का है। प्रगति की धारणा केन्द्रीय रूप से नैतिक है। समाजशास्त्रियों का कहना है कि उद्विकास और प्रगति के उपरान्त भी नैतिक दृष्टि से समाज नीचे गिर सकता है। आज के आधुनिकरीण के युग में प्रगति की अवधारणा एशि के कई देशों में विवादापस्द बन गयी है।

अध्याय के इस भाग को समाप्त करते हुए हम यह टिप्पणी करना चाहते हे कि सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा का एक व्यापक अवधारणा है। निश्चित रूप से सामाजिक परिवर्तन में मूल्य, मानक और वैज्ञानिता होती है। इसकी सामाजिक प्रक्रियाएँ कई स्वरूप धारण करती है। हमने उद्विकास, विकास, प्रगति, सुधार तथा क्रांति आदि सामाजिक प्रक्रियाओं का उल्लेख किया है। ये प्रक्रियाएं थोड़े बहुत फेर-फेर के साथ सभी देशों में देखने को मिलती है लेकिन परिवर्तन की कुछ सामाजिक प्रक्रियाएं अनिवार्य रूप से स्थानीय होती है।

सामाजिक परिवर्तन के सिद्धांत :

सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या समाजशास्त्रियों ने कतिपय सिद्धांतों के संदर्भ में की है। महत्वपूर्ण बात यह है कि सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को हम किस उपागम से देखते है। यह उपागम ही सामाजिक परिवर्तन का सिद्धांत है। उदाहरण के लिये इतिहासकार टोयनबी या समाशास्त्री सोरोकनी जब सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या करते है तो उन्हें लगता है कि परिवर्तन तो एक चक्र की तरह है। ठीक ऐसे ही जैसे बाल्यावस्था आती है,

युवावस्था आती है और अन्त में वृद्धावस्था के बाद शरीर समाप्त हो जाता है।

सामाजिक परिवर्तन को मार्क्सवादी इस संदर्श में नहीं देखते। वे मानते है कि परिवर्तन का बुनियादी आधार आर्थिक संगठन है। इस भांति देखें तो लगेगा कि सामाजिक परिवर्तन एक उपागम है जिसे विभिन्न सिद्धांतों में बांधा गया है। इस संबंध में दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि सामाजिक परिवर्तन के विश्लेषण के कई सिद्धांत है। इन सिद्धांतों में सभी सिद्धांत पूर्ण हो, ऐसा कुछ नहीं है। देखा जाये तो कोई भी सिद्धांत अपने आप में पूर्ण नहीं हैं प्रत्येक में कुछ न कुछ अभाव, कमजोरी है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए एंथोनी गिडेन्स तो कहते है कि सामाजिक परिवर्तन के जितने भी सिद्धांत है उन्हें दो वृहद श्रेणियों में रखा जा सकता है :

1. उद्विकासवाद से जुडे सिद्धांत
2. ऐतिहासिक भौतिकवाद से जुडे सिद्धांत

उद्विकास से जुड़े हुए सिद्धांत वस्तुतः प्राणिशास्त्रीय परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन से जोड़ने वाले है और ऐतिहासिक भौतिकवाद से जुड़े हुए सिद्धांत मौलिक रुप से वे है जिन्हें कार्ल मार्क्स ने रखा है। मार्क्स के बाद भ्ज्ञी मार्क्सवादी सिद्धांतवेत्ताओं ने ऐतिहासिक भौतिकवाद को उसके विभन्न स्वरूपों में रखा है। यहां हम सामाजिक परिवर्तन के इन दो श्रेणियों में बंटे हुए सिद्धांतों का विश्लेषण देगें।

उद्विकासीय सिद्धांत :

उद्विकासीय सिद्धांतों की यह श्रेणी बहुत व्यापक है। इसके अन्तर्गत निम्न चार सिद्धांत आते है :–

1. सामाजिक डार्विनवादी सिद्धांत
2. चक्रीय सिद्धांत

3. एक रेखीय एवं बहुत रेखीय उद्विकास सिद्धांत

4. पारसंस का उद्विकास सिद्धांत

सामाजिक डार्विनवादी सिद्धांत :

सिद्धांतों के इस सम्प्रदाय में कई सिद्धान्तवेत्ता सम्मिलित है। इनमें मुख्य रूप से हरबर्ट स्पेन्सर, डार्विन, मेण्डल, हेनरीमेन आदि के नाम मुख्य रूप से उल्लेखनीय है। यद्यपि इन सिद्धांतों का केन्द्रीय बिन्दु समाज का उद्विकास है लेकिन व्यावहारिक रूप से ये सिद्धांत उन्नति के द्योतक है। वास्तविकता यह है कि 19वीं शताब्दी के उद्विकासवादियों ने अपने आपकों विकास के साथ जोड़ लिया। इनका कहना था कि समाज का उद्विकास उच्च नैतिक धरातल पर होता है।

उद्विकासिवादी सिद्धांतों में सामाजिक डार्विनवादी 19वीं शताब्दी में एक महत्वपूर्ण सिद्धांत बन गया। यह सिद्धांत चार्ल्स डार्विन ने प्राणिशास्त्रीय उद्विकास से बहुत प्रभावित है। इसी कारण इसे डार्विन के नाम पर ही सामाजिक डार्विनवाद कहते है। इस सिद्धांत का तर्क था कि जिस प्रकार प्राणिशास्त्रीय सावयव अपने जीवित हरने के लिए बराबर जुझता रहता है, ठीक इसी भांति मानव समाज भी अपने अस्तित्व के लिये जूझते रहते है। पश्चिमी देशों में आज के समाजों ने इस संघर्ष में अपने आपकों विजयी पाया है इसलिये ये समाज आज भी शीर्ष स्तर पर है। कुछ लेखकों ने सामाजिक डार्विनवाद के विचारों को इस तथ्य के साथ जोड़ा है। कि गोरे लोगों का प्रभुत्व काले लोगों पर है। इस सिद्धांत में सब मिलकर यह स्थापित किया गया है कि यूरोप के लोगों की शक्ति बहुत विशाल थी और गरीब पुरूषों का इसमें कोई स्थान नहीं था। ई. 1920 के दशक तक आते–आते सम्पूर्ण यूरोप में सामाजिक डार्विनवाद का पतन हो गया। सामाजिक डार्विनवाद ही क्यों, सम्पूर्ण उद्विकासवाद का पतन यूरोप में हो गया।

चक्रीय सिद्धांत :

सामाजिक परिवर्तन के चक्रीय सिद्धांत को कई बार चक्रात्मक सिद्धांत भी कहते है। इसी तरह के परिवर्तन का स्वरूप किसी वृत्त या घेरे की तरह होता है। परिवर्तन की लम्बी अवधि को ध्यान में रखते हुए प्रायः इसकी व्याख्या चक्रीय रूप में की जाती है। चक्रीय परिवर्तन की प्रक्रिया ऋतुओं में दिखायी पड़ती है। सर्दी के बाद गर्मी, उसके बाद वर्षा और पुनः सर्दी आती है। इस तरह भारतीय भौगोलिक परिस्थितियों के अन्तर्गत मौसम की गति एक चक्र में घूमती है। इसी प्रकार दिन के बाद रात औश्र फिर दिन की प्रक्रिया भी चक्रीय हैं। यह भी प्रायः कहा जाता है कि इतिहास अपनी ही पुनरावृत्ति करता है। ''इतिहास की यह धारणा भी जीवन तथा घटनाओं की व्याख्या एक वृत्त के अन्तर्गत करने की चेष्टा करती है।

अरनाल्ड टोयनबी, स्पेंग्लर, लेविस ममफोर्ड, पट्रिम सोरीकीन जैसे दार्शनिक इतिहासवेत्ताओं व समाजशास्त्रियों ने सामाजिक परिवर्तन का विश्लेषण वृत्त तथा चक्र के माध्यम से करने की कोशिया की है।'' टोयनबी वस्तुतः एक ब्रिटिश इतिहासकार है। उन्होंने अपनी विचारधारा को इतिहास के अध्ययन नामक पुस्तक के लगभग 11 खण्डों में रखा है। उनका तर्क है कि मनुष्य के जन्म की तरह सभ्यता का जन्म भी होता है, वह फलती–फूलती है और अन्त में उसका विनाश हो जाता हैं वे तथ्य देते हुए कहते है कि दुनिया में कुल 21 सभ्यताएं थी। इन सभ्यताओं में आज केवल पांच सभ्यताएं जीवित है। इसका अर्थ यह हुआ कि सभ्यातएं भी जन्म लेती है और लम्बी अवधि में जाकर मर जाती है। आज की पश्चिमी सभ्यता टोयनबी का तर्क है, पतन के कगार पर खड़ी है। सभ्यताएं भी बदलती है, उनमें भी परिवर्तन आता है और इस परिवर्तन का प्रकृत्ति चक्रीय होती है।

टोयनबी ने प्रश्न रखा कि 21 सभ्यताओं में केवल 5 सभ्यताएं जीवित ही जीवित

क्यों है। वे मुनष्य के सम्पूर्ण इतिहास की गहरी पड़ताल करते है और कहते है कि किसी सभ्यता का जन्म तब होता है जब पर्यावरण अपने निवासयिों की चुनौती देता है और निवासी उकसा प्रत्युत्तर इस तरह देते है। कि इससे नयी चुनौती पैदा देता है और प्रत्युत्तर का सिलसिला जब तक निरन्तर रूप से चलता रहता है, सभ्यता आगे बढ़ती रहती है। जब चुनौती का प्रत्युत्तर नहीं आता तो समझिये कि सभ्यता विनाश के कगार पर आ गयी है उसी चिता सजा दी गयी है।

चक्रीय सिद्धांतवेत्ताओं में स्पेंग्लर का नाम भी महत्वपूर्ण है। स्पेंग्लर ने विभिन्न सम्भ्याताओं की छानबीन करके यह निष्कर्ष निकाला कि आज पश्चिमी सभ्यता अपने पतन की अवस्था में है। इसकी सांस फूल गयी है। इसकी मौत के बाद किसी अन्य सभ्यता का जन्म होगा। जैसे शरीर क्षणभंगुर है, कुछ वैसे ही सभ्यता का जन्म लेने के बादइ विनाश को प्राप्त होती है।

सोरोकिन चक्रीय सिद्धांतवेत्ताओं में एक उल्लेखनीय हस्ताखर है। उन्होंने अपने सिद्धांत को पुस्तक के तीन खण्डों में रखा है। उनका सरोकार वृहद स्तर पर होने वाले सांस्कृति परिवर्तन से है। उनका उपागम सांसकृतिक मनोवृत्तियाँ है। यदि सांस्कृतिक मनोवृत्तियां है। यदि सांस्कृतिक मनोवृत्ति की दृष्टि से देखें तो प्रत्येक सभ्यता का उद्रम होता हैऔर निश्चित रूप से उसका पतन भी होता है इन सांस्कृतिक मनोवृत्तियां में जो परिवर्तन आते हैं उन्हें सोरोकिन ने दः सोपानों में रखा है :

1. ऐसे परिवर्तन जो समय और स्थान की दृष्टि से अजीब होते है।
2. ऐसे परिवर्तन जिनकी बराबर पुनरावृत्ति बनी रहती है।
3. अनुरेखीय परितर्वन।
4. घटने-बढ़ने वाले परिवर्तन।
5. सर्पिल परिवर्तन।

6. शाखन रूप से होने वाले परिवर्तन।

सोरोकिन का सामाजिक परिवर्तन का सिद्धांत अत्याधिक जटिल है। वे अपने सिद्धांत की केन्द्रीय इकाई सांस्कृतिक मनोवृत्तियों को मानते है। वास्तव में सोरोकिन जब सामाजिक परिवर्तन के उपागतम को निश्चित करते है तो एक ओर तो वे वस्तु के इन्द्रियज्ञान को लेते है और दूसरी और उसकी मनोवृत्ति को। इस दृष्टि से वे संस्कृति की तीन श्रेणियां पाते है :–

1. इन्द्रियपरक संस्कृति :

संस्कृति का यह वह भाग है जो भौतिक आनन्द प्रदान करता है। यह संस्कृति मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। और इसके माध्यम से व्यक्ति सुख का अनुभव करता है। भारतीय संस्कृति में इसे भोग कहते है। भावात्मक वस्तुएं जैसे सौन्दर्य बोध, कला आदि भी इसी संस्कृति में निहित है। संस्कृति के इस भाग का इन्द्रियों द्वारा अनुभव किया जा सकता है। दूसरी ओर वे वस्तुऐ जो इन्द्रिय आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं करती, इस संस्कृति की परीधि से बाहर आ जाती है। इन्द्रियपरक संस्कृति वस्तुतः जमीन से जुड़ी हुई संस्कृति है, जिसे यथार्थ संस्कृति भी कहा जा सकता है। इस संस्कृति का मूल्याकंन भौतिक सुख के मानदण्ड से किया जाता है। मर्टन की व्याख्या के अनुसार इस संस्कृति का उपभोग अधिक से अधिक तकनीकी साधनों के माध्यम से किया जाता है। प्रौद्योगिकी इन्द्रियपूरक संस्कृति को प्राप्त करने का साधन होती है जिसे आम आदमी उपभोक्ता संस्कृति कहता है, वह वास्तव में इन्द्रियपूरक संस्कृति है।

2. विचारणात्मक संस्कृति :

संस्कृति का यह भाग इन्द्रियपूरक संस्कृति के विपरीत है। इस संस्कृति से जुड़ा हुआ समाज ईश्वरीय व आध्यात्मिक चिन्तन में लग जाता है। यह संस्कृति अंतिम सत्य की खोज में

सलंग्न होती है। हमारे सजाम में इस संस्कृति का अनुयायी सन्यास और वानप्रस्थ सिद्धांतों को जीवन में उतारने का प्रयत्न करता है। विचारात्मक संस्कृति की अवसथा में समाज उपयोगियतावाद के स्तर से उपर उठ जाता है, न ही वह नवीन आविष्कारों के साथ अपने आपकों जोड़ता है। कला, साहित्य, आर्थिक, राजनीतिक व व्यावहारिक व्यवस्थाएं सभी धर्म, आचार शास्त्र व ईश्वर से ओतप्रोत होती है। संस्कृति के इस भाग को लक्ष्य ऐहिकपरकता से दूर हटकर शाश्वत सत्य की ओर जुड़ा होता है।

3. आदर्शवादी संस्कृति :

सोरोकिन संस्कृति के इस भाग को इन्द्रियपूरक व विचारानात्मक संस्कृति का मिला जुला रूप मानते है। इसमें आदर्शवादी संस्कृति और भौतिक सुखाओं तथा आध्यात्मिक चिंतन का समन्वय होता है। इसमें विज्ञान, दर्शन, कला, साहित्य और आधायत्म किसी की भी उपेक्षा नहीं की जाती। ज्ञान का उपभोग होता है, वह केवल ज्ञान प्राप्ति हेतु नहीं होता।

सोरोकिन ने संस्कृति के इन तीन आयामों को चक्रीय रूप में प्रस्तुत किया है। वे इस सिद्धान्त को प्रस्तत करते हुए दो बुनियादी प्रश्न रखते है : (1) संसार में अंतिम सत्य क्या है? (2) जीवन के सर्वोच्च मूल्य क्या होने चाहिये? इन प्रश्नों के उन्होंने तीन उत्तर दिये है। पहला उत्तर तो यह है कि जिस किसी की हमें इन्द्रियों द्वारा अनुभूति होती है, वह सत्य है। इस अर्थ में मोटरगाड़ी, कारखाना, गरीबी, शिक्षा ये सब तत्व सत्य है क्योंकि इनकी इन्द्रियों द्वारा अनुभूति होती है वह सत्य नहीं है। वह तो केवल मोह है, माया है, एक प्रकार का भ्रम है। मकान, कारखाने, जेवर, वस्त्र सभी नष्ट हो जायेंगे। इनमें से कुछ भी शाश्वत नहीं है अतः यह सत्य नहीं हो सकते। सोरोकिन का तीसरा उत्तर यह है कि जो इन्द्रिय बोधक है और वह भी जो इन्द्रियाजीत है, दोनों सत्य है। दूसरे शब्दों में जिसे हमे इन्द्रियों द्वारा देखते है वह भी सत्य है और जिसकी अनुभूति इन्द्रियों द्वारा नहीं होती, वह भी सत्य है।

''दूसरे प्रश्न का उत्तर पहले प्रश्न के उत्तरों पर निर्भर करता है। सत्य इन्द्रिपरक वस्तुओं को ही माना जाता है तो सर्वोच्च मूल्य खाओं, पीओं व मौज उड़ाओं को ले सकते है। वह संस्कृति जिसका आधार ये मूल्य है उसे सोरोकिन ने इन्द्रियपूरक संस्कृति कहा है। इस संस्कृति में समाज व समुदाय भौतिक वस्तुओं के उपभोग व विज्ञान के आधार पर ज्ञान प्राप्ति को महत्व देता है। जब इन्द्रियपूरक बोध को असत्य माना जाता है, व सत्य की परिकल्पना शाश्वत रूप में की जाती है तब सर्वोच्च मूल्य त्याग और इस जगत में पलायन की ओर जाते है। जगत को मिथ्या समझा जाता है अतः व्यक्ति भौतिक उपयोगों से बचकर एकान्त की इच्दा रखते है। भारतीय दर्शन में शंकाराचार्य का दृष्टिकोण इसी प्रकार का था। ऐसे मूल्यों को स्वीकृत करने वाली संस्कृति को सोरोकिन ने विचारणात्मक संस्कृति कहा है।

तीसरे, सत्य ही दोनों ही स्वरूपों में देखा है। जो इन्द्रियपरक बोध है वह भी सत्य है और जो इन्द्रीयतीत बोध है वह भी सत्य है। ऐसी संस्कृति में भौतिक जीवन के उपभाग को निर्लिप्त भाव से भोगने के मूल्य सर्वोपरि बन जाते है। गीता का कर्म दर्शन, जिसके अन्तर्गत फल की आशा किसये बिना कर्म करने की व्यवस्था है, इस श्रेणी में आएगा। ऐसी संस्कृति को सोरोकिन ने आर्दशवादी संस्कृति कहा है।''

सोरोकिन का सामाजिक परिवर्तन का सिद्धांत चक्रीय इसलिये है कि मानव संस्कृति के इन भागों को सिलसिले से अपनाता है। आज का समाज और विशेष करके पश्चिमी समाज इन्द्रियपरक संस्कृति की कगार पर खड़ा है। सोरोकिन का कहना है कि संस्कृति के ये प्रकार चक्र की तरह कालान्तर में भी घूमते रहेंगे।

एक रेखीय व बहु रेखिक उद्विकासीय सिद्धांत :

पिछले पृष्ठों में हमने उद्विकास सिद्धांतों का उल्लेख किया है। इनमें अब हम आखिरी सिद्धांत एक रेखिक और बहु रेखिक का उल्लेख करेंगे। एक रेखिक सिद्धांतवेत्ताओं में कॉप्ट,

स्पेन्सर और हॉबहाऊस का नाम विशेष रूप से लिया जाता है। एक रेखिक सिद्धांतवेत्ताओं का महत्व विशेषकर 19वीं शताब्दी में देखने को मिलता है। यदि इस शताब्दी को हम उद्विकासीय सिद्धांतों की शताब्दी कहें तो अतिश्योक्ति नहीं होगी। इस उद्विकासवादियों का आग्रह है कि मनुष्य समाज का विकास एक निश्चित रेखा में हुआ है। उन्होंने यह कहा कि दुनियाभर के समाजों के विकास की दशा एक ही रही है। इस एक रेखिक विकास में समाज सामान्य अवस्था से जटिल अवस्था की ओर विकसित हुए हैं। इस एक रेखिक विकास में समाज सामान्य अवस्था से जटिल अवस्था की ओर विकसित हुए है। दूसरे शब्दों में यदि कोई समाज उद्विकास के सोपान में ऊपर चढ़ना चाहता है तो उसकी दिशा, उद्विकासवादियों का कहना है, निश्चित है सामान्य से जटिल। उदाहरण के लिये चाहे यूरोप के समाज में रहें हो या चीन के, उद्विकास के सोपानों में ये सभी समाज पहले कबीले थे, फिर आदिम समाज बने और फिर मध्य समाज। अर्थ हुआ : उद्विकासीय समाज निशिचित रूप से सामान्य से जटिल की ओर बढ़ता है–यांत्रिक अवस्था से सावमयी अवस्था की ओर जाता है।

अगस्ट कॉम्प ने सबसे पहली बार बौद्धिक विकास के तीन स्तरों का उल्लेख किया है। ये स्तर इस प्रकार है

1. धार्मिक अवस्था
2. तात्विच या गुणवादी अवस्था
3. प्रत्याक्षदी अवस्थ्था

मेलिनोस्की और रेडिक्लिफ ब्राउन ने आदिम समाजों से जुड़ी हुई पर्याप्त एथनिक जानकारी हमारे सामने रखी है। यह तथ्य सामग्री बहुत मूल्यवान है। इस अवस्था में व्यक्ति किसी भी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने के लिए आर्थिक स्तर पर सोचता था। इस ज्ञान की व्याख्या वह ईश्वर तथा हमारे देश में वेदों के आधार पर करता थ्था। यह विचार और

सोच की धार्मिक अवस्था थी। कॉम्प के अनुसार उद्विकास की दूसरी अवस्था तात्विक थी। इस अवस्था में पहुंच कर समाज वस्तुओं को उनके गुण–दोष के आधारों पर देखता था। उद्विकास की सामाजिक प्रक्रिया में प्रत्यक्षवाद आया। प्रत्यक्षवाद प्रस्तुतः विज्ञानवाद है। इसका आग्रह है कि जिस भांति समाज में वस्तुओं का उद्विकास होता है, वैसे ही सामाजिक संस्थाओं का भी उद्विकास होता है।

19वीं शताब्दी के एक रेखिक उद्विकास का महत्व अधिक दिन नहीं चला। हाल के पिछले कुछ दशकों में एक रेखिक उद्विकास सिद्धांत की कटु आलोचना हुई। यह समझा जाने लगा कि सभी समाजों का विकास एक ही रास्ते में हुआ हो, ऐसा नहीं है। सच्चाई तो यह है कि प्रत्येक समाज के विकास का रास्ता नहीं रहा है। इतिहास बताता है कि यूरोप में इसकी समाप्ति बहुत पहले हुई। बहुरेखयीय सिद्धांतवेत्ताओं में लेन्सकी और लेन्सकी ने कतिपय प्रमाणों के आधार पर इस तथ्य पर जोर दिया है कि समाजों के विकास की रेखा एक ही नहीं होती, कई रेखाएं होती है–कई पथ होते है। इस विचारधारा के अनुसार विभिन्न प्रकार के समाजों की पहचान की जा सकती है औश्र इन समाजों के स्तरीकरण के आधार पर सरलता से जटिलता विभिन्न श्रेणियों में रखा जा सकता है।

बहुरेखिक सिद्धांतवेत्ताओं का एक और तर्क यह भी है कि सामाजिक परिवर्तन का केन्द्रीय तत्व यह है कि समाज के सदस्य कितनी तत्परता से पर्यावरण के साथ अनुकूलन करते है। इस अनुकूलन की प्रक्रिया में यह संभव है कि कुछ समाज सरलता से सफल हो जाएं और कुछ को सफल होने में लम्बी अवधि लग जायें। इसी कारण बहुरेखयी सिद्धांतवेत्ता एक रेखिक सिद्धांतों की प्रासंगिकता को संदेह की दृष्टि से देखते है।

पारसंस का उद्विकासीय सिद्धांत :

उद्विकासीय सिद्धांतों की श्रृंखला में पारसंस का उद्विकासीय सिद्धांत हाल के सामाजिक

परिवर्तन के सिद्धांतों में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। सामान्यता उद्विकासवादी सिद्धांतवेत्ताओं का संदर्श प्रकार्यात्मक होता है। पारसंसस भी प्रकार्यवादी है। उनका सुझाव है कि सामाजिक उद्विकास और कुछ न होकर प्राणिशास्त्रीय उद्विकास है। सामाजिक और प्राणिशास्त्रीय उद्विकास को समझने के लिए पारसंस ने उद्विकासीय सार्वभौम की अवधारणा को रखा है। इस अवधारणा का तर्क यह है कि विकास के कुछ ऐसे प्रकार है जो विभिन्न दशाओं में सभी समाजों को देखने को मिलते है। विकास के इन प्रकारों को ही पारसंस उद्विकासीय सार्वभौम कहते है। इसका सामान्य अर्थ यह है कि कुछ सामाजिक संस्थाएं इतिहास के क्रांतिकारी करवटों के लेने पर भी जीवित रहती है। इन्हीं को पारसंस उद्विकासीय सार्वभौम कहते है।

पारसंस ने सार्वभौम की पहचान की है। ये सार्वभौम सभी समाजों में देखने को मिलते है। इन सार्वभौमों ने पहला सार्वभौम, उदाहरण के लिये दृष्टि है। दृष्टि का अर्थ वस्तुओं को देखने की शक्ति है। यह दृष्टि मनुष्यों में नहीं, सम्पूर्ण पशु दुनिया में देखने को मिलती है। देखने के इस सार्मथ्य ने पशु और मनुष्य दोनों को अनुकूलन करने की शक्ति दी है। मनुष्य विकास की अवस्था में सबसे अधिक विकसित जानवर है। उसमें देखने की जो क्षमता है वह उसे अधिक अनुकूलन करने की शक्ति देता है।

सार्वभौम तत्वों से दूसरा तत्व संचार का है। पारसंस कहते है कि संचार सभी मनुष्य सांस्कृतियों में देखने को मिलता है। बिना भाषा या बोली के संचार नहीं हो सकता इसलिये सभी समाजों में भाषा सार्वभौम है जो उद्विकास को विकास के रास्ते की ओर ले जाता है। पारसंस कहते है कि तीन और सार्वभौम है जो बहुत प्राचीन है और सभी समाजों में पाये जाते है। ये सार्वभौम है, धर्म, नातेदारी और प्रौद्योगिकी। इस तरह कुछ मिलाकर पारसंस कहते हैं कि सभी समाजों में चार सार्वभौम पाये जाते है : (1) दृष्टि (2) संचार (3) भाषा (4) धर्म (5) नातेदारी, और (6) प्रौद्योगिकी। ये सार्वभौम इतने महत्वपूर्ण और

प्रभावशाली है कि इनके अभाव में सामाजिक उद्विकास आगे नहीं बढ़ सकता।

पारसंस के उद्विकास की बहुत बड़ी विशेषता यह है कि सामाजिक उद्विकास का कोई भी विश्लेषण तब तक अधूरा है जब तक हम सरल से जटिल की प्रक्रिया को नहीं समझते यानी यह नहीं जानते कि समाज सतीतयता के स्तर से विजातीयता की ओर बढ़ता है। समाज ज्यों–ज्यों सामाजिक उद्विकास के स्तर की ओर बदता है त्यों–त्यों उसमें अधिक से अधिक स्तरीकरण आता है। स्तरीकरण का मतलब हुआ समाज का सरल स्तर से जटिल स्तर की ओर बढ़ना।

पारसंस ने समाज के उद्विकास के सोपानों की पहचान की है। पहला सोपान जैसा कि हमने उपर कहा है कि उद्विकासवादी सार्वभौमों का है। उद्विकासवादी सार्वभौमों के लक्षण भी पारसंस ने पहचान लिये है। उद्विकासवादी सोपान का दूसरा स्तर उच्चतम आदिम समाज का है। इस प्रकार के समाज में स्तरीकरण की व्यवस्था समाप्त हो जाती है और समाज समतावादी बन जाता है। उच्चतर आदिम समाज में प्रायः एथनीक यानी संस्कृति और वर्ग पाये जाते है। ये वर्ग उत्पादन व्यवस्था को निश्चित करते है और इस तरह लोग अपना जीवनयापन करते है। उच्चतर समाज में धर्म तो होता पर इसका संबंध सामाजिक जीवन के अन्य पहलुओं से नहीं होता।

उद्विकास के दौर में पारसंस कहते है। मध्यस्तरीय समाज का उद्‌गम होता है। इस तरह के मध्यस्तरीय समाजों को इतिहासकार सभ्यता का परम्परागत समाज के नाम से पुकराते है। ऐसे समाजों में मिस्त्र, चीन और भारत का नाम लिया जाता है। इन सभ्यताओं में या मध्यस्तरीय समाजों में लिखना और पढ़ना आ जाता है। धर्म नयी दिशाओं को ग्रहण कर लेता है, इसका अर्थ राजनीति से जुड़ा जाता है। राजनैतिक नेतृत्व का विकास सरकारी प्रशासन के साथ हो जाता है।

पारसंस के उद्विकासीय सिद्धांत ऊंचा स्थान औद्योगिक समाजों का है ऐसे समाजों में

आन्तरिक विभेदीकरण या स्तरीकरण अत्यधिक मात्रा में होता है। इन समाजों में आर्थिक और राजनैतिक जीवन एक दूसरे से बहुत अधिक पृथक होते है। प्रजातान्त्रिक व्यवस्था इस समाज में एक व्यापक बन जाती है। पारसंस के सैद्धांतिक विश्लेषण में समाजों का उद्विकास जिस तरह से हुआ है वह सरल से जटिल की ओर है।

6.2.3 सामाजिक परिवर्तन के कारक :

सामाजिक परिवर्तन का विश्लेषण मूल रूप से उद्विकासीय सिद्धांतों और ऐतिहासिक भौतिकवाद द्वारा किया जात है। सिद्धांत स्तर पर सामाजिक परिवर्तन की यह विश्लेषण तार्किक है लेकिन इसमें एक कठिनाई है। प्रत्ये सिद्धांत एक केन्दीय कारक एवं संदर्श से बंध होता है। उदहारण के लिए, ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धांत केवल आर्थिक कारकों को ही प्रभावी समझते है। गैर–आर्थिक कारक उनकी विषय वस्तु नहीं बनते। ठीक इसी तरह भांति–भांति के उद्विकासीय सिद्धांत केवल उद्विकास को अपने अध्ययन विषय की केन्द्रीय सामग्री समझकर चलते हैं। अतः सामाजिक परिवर्तन का सिद्धांतों द्वारा विश्लेषण केवल एक सीमा तक ठीक है। इस अभाव की पूर्ति में कुछ लेखकों ने उन कारकों का विवरण दिया है जो सामाजिक परिवर्तन को प्रभवित करते है। इस तरह के संदर्श में एक और कठिनाई भी दूर हो जाती है। एंथोनी गिडेन्स का कहना है कि हाल में कुछ आधुनिकतम प्रकार के सामाकि परिवर्तन के कारक हमारे सामने आये है जिनकी परिणगति उत्तर औद्योगिक समाज के निर्माण में होती है। इस तरह के कारक महत्वपूर्ण दिशा को बनाते है। इनमें से एक कारक यह भ्ङ्की है कि आज दुनियाभर में इतिहास का विराम हो गया है। इसकी व्याख्या भी हम सामाजिक परिवर्तन के कारकों से करेंगे। ये कारक इस भांति है :

(1) भौतिक पर्यावरण

(2) राजनैतिक संगठन

(3) सांस्कृति कारक

(4) आर्थिक प्रभाव

(5) प्रौद्योगिकीय कारक

(6) जनानंकिकीय कारक

(7) कानूनी एवं प्रशासनिक कारक

(8) सामाजिक परिवर्तन के सामयिक कारक

(1) भौतिक पर्यावरण :

जैसा कि उद्विकासवादियों ने कहा है, पर्यावरण का प्रभाव मानव सामाजिक संगठन के विकास में बहुत प्रभावशाली होता है इस तरह के प्रभाव को तब सरलता से देखा जा सकता है जब पर्यावरण की दशाओं में निकट परिवर्तन आ जाता है। ऐसी अवस्था में मौसम दशाओं के अनुसार लोगों को अपने जीवन को ढालना पड़ता है। उदाहरण के लिये ध्रुवीय क्षेत्रों में रहने वाले लोग भौतिक पर्यावरण के अनुसार अनिवार्य रूप से अपने जीवन को संचालित करते हैं। बाढ़ आने पर सूखा होने पर लोगों को अपनी जीवन पद्धति में परिवर्तन लाना पड़ता है। यदि हम प्रारंभिक सभ्यताओं के इतिहास को देखें तो ज्ञान होगा कि बड़ी–बड़ी सभ्याताओं का जन्म वहां हुआ है जहां खेती–बाड़ी के लिये उपजाऊ मिट्‌टी प्राप्त हुई है। सिंधु नदी की घाटी की सभ्यता, दजला फरात नदी की सभ्यता का वोल्गा की सभ्यता पर्याप्त रूप से बताती है कि यहां सभ्यता का विकास हुआ है। मतलब यह कि यदि पर्यावरण धनाढ़्य है तो सभ्यता भी पर्याप्त रूप से विकसित होगी। इस तरह सामाजिक परिवर्तन के लाने में पर्यावरण का प्रभाव बहुत अधिक होता है।

इन ऐतिहासिक प्रभावों के होते हुए भी ऐसा नहीं लगता कि भौतिक पर्यावरण का प्रत्यक्ष और सीधा प्रभाव समाज पर पड़ता हो। यह देखा गया है कि कई बार जब लोगों

को प्रौद्योगिकी बहुत निम्न होती है फिर भी सामान्य क्षेत्रों में लोग पर्याप्त विकास कर जाते है। बहुत साफ बात यह है कि भौतिक पर्यावरण सामाजिक परिवर्तन के लिये उत्तरदायी तो है लेकिन पर्यावरण और सामाजिक परिवर्तन सीधे या प्रत्यक्ष रूप से जुड़े हों, इसके प्रमाण हमारे पास बहुत थोड़े है। इस संबंध में एंथोनी गिडेन्स लिखते है :-

उत्पादन व्यवस्था के प्रकारों और पर्यावरण के बीच में भौतिक पर्यावरण में संचार व्यवस्था को भी सम्मिलित करते है। समुद्र, नदी,नाले और पहाड़ प्राकृतिक पर्यावरण के अंग है। पिछ्ले वर्षो में भौतिक पर्यावरण ने लोगों के बीच के संचार को बहुत अधिक प्रभावित किया है। हमारे यहां हिमालय पहाड़ कई सदियों तक हमें एशिया के दूसरे देशों से पृथक करता आया है। यह अवश्य है कि आज कि विकसित संचार व्यवस्था में इस प्रकार का भौतिक पर्यावरण कोई अधिक प्रभावपूर्ण सिद्ध नहीं होता।

(2) राजनैतिक संगठन :

सामाजिक परिवर्तन को गहराई से प्रभवित करने वाला एक और कारक राजनैतिक संगठन है। शिकार और खा़ संग्राहक समाजों में राजनैतिक संगठन या पद्वति का न्यूनतम प्रभाव देखने को मिलता है। इसका कारण यह है कि इन समाजों में कोई पृथ्क राजनैतिक संगठन नहीं होते तो लोगों में राजनीतिक गतिविधियों पैदा कर सके। शिकार और खाद्य संग्राह समाजों को छोड़कर अन्य सभी समाजों में निश्चित और सुस्पष्ट राजनीतिक इकाइयां होती है - उदाहरण के लिये कबीले के मुखिया, राजा या सरकारें जो सामाजिक परिवर्तन को प्रभावित करती है।

जैसा कि मार्क्स का तर्क है कि राजनीतिक व्यवस्थाएं विभिन्न उत्पादन व्यवस्थाओं में एक जैसी नहीं होती। होता यह है कि उत्पादन व्यवस्थाओं में विभिन्न प्रकार की राजनैतिक व्यवस्थाएं पाई जाती है। उदाहरण के लिये, छोटे गैर राज्य पशुपालन समाजों में जो उत्पादन

व्यस्था होती है वह वृहद और राज्य पर आधारित सभ्यताओं से भिन्न नहीं होती। सभी समाजों में राजाओं–महाराजाओं का यह प्रयास होता है कि वे क्षेत्रीय विकास करने का प्रयत्न करते हैं, और इसके परिणामस्वरूप उनकी आर्थिक स्थिति सृढ़ढ हो जाती है लेकिन दूसरी ओर ऐसे राजा–महाराज भी होते है जो अपने राज्य के क्षेत्र को बढ़ा नहीं पाते और दूसरे राजाओं के आक्रमण के सामने घुटने टेक देते है। ये सब उदाहरण बनाते है कि कई बार उत्पादन व्यवस्था की अपेक्षा राजनीतिक व्यवस्था सामाजिक परिवर्तन को अधिक प्रभावित करती है।

राजनीतिक प्रभाव का एक पहलु सैन्य शक्ति भी होती है। बहुत सारे ऐसे राज्य जिन्हें हम परम्परागत राज्य कहते है, बुनियादी रूप से सैन्य शक्ति के कारण ही बदले है। सच्चाई यह है कि उत्पादन के स्तर और सैन्य शक्ति का कोई सीधा संबंध नहीं है। यह संभव है कि अच्छी उत्पादन व्यवस्था में भी सैन्य शक्ति कमजोर हो और कमजोर उत्पादन व्यवस्था में सैन्य शक्ति ताकतवार हो। सामाजि परिवर्तन को किसी भी तरह से सीधा उत्पादन शक्ति के साथ नहीं जोड़ा जा सकता।

एशिया में राजनीतिक संगठन ने सामाजिक परिवर्तन को बहुत अधिक प्रभावित किया है। उदाहरण के लिये पाकिस्तान और बांग्लादेश में राज्य व्यवसथा इस्लामपरक है। इन देशों में राज्य का मुहावरा कुरान से प्रेरित है। शराब नहीं पीना, स्त्रियों को निम्न दर्जा देना, मौलवियों को प्रधानता देना, सैन्य शक्ति को बढ़ाना ये सब कारक राजनीति से प्रभावित है। आज भी पाकिस्तान में सैन्य शक्ति और राजनीतिक शक्ति के बराबर टकराव बना हुआ है। सामन्यवादी देशों में – चीन और पूर्व रूस में अब भी मार्क्सवादी विचारधारा राजनीतिक व्यवस्था को प्रभावित करती है। हमारे देश में पश्चिमी बंगाल की सरकार साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित हैं यहां राजनीतिक व्यवस्था संविधान से नियंत्रित होती है। इस समाज में पंचायती राज, संवैधानिक स्थिति रखता है। हमारी प्रजातांत्रिक व्यवस्था भी

मूलभूत अधिकारों के दायरे में चलती है। ये सब तथ्य स्पष्ट रूप से बताते है कि राजनीतिक व्यवस्था और सैन्य शक्ति का प्रभाव सामाजिक परिवर्तन पर बड़ी गहराई से पड़ता है। आज तो दुनियाभर के देशों में प्रजातान्त्रिक व्यवस्था अपने विभिन्न प्रकारों में सामाजिक व्यवस्था बन जाती है। वैसा ही सामाजिक परिवर्तन हो जाता है। वास्तविकता तो यह है कि सामाजिक परिवर्तन को दिशा और गति देने का काम एक सीमा तक राजनीतिक व्यवस्था करती है।

(3) सांस्कृतिक कारक :

सांस्कृतिक कारकों में धर्म, विचार पद्धति और जन चेतना के प्रभावों को सम्मिलित किया जाता है। यह कहा जाना चाहिये कि धर्म या तो रूढ़िवादी होता है या सामाजिक जीवन में एक नवीनतमक शक्ति होती है। धर्म के कई ऐसे स्वरूप है। जो सामाजिक परिवर्तन पर अवरोधन का काम करते है और बराबर इस तथ्य पर जोर देते है कि मनुष्य को अपने परम्परागत मूल्यों और कर्मकाण्डों को स्वीकार करके चलना चाहिये लेकिन दूसरी ओर ऐसे दृष्टान्त भी है जिनमें धर्म समाज को तीव्र गति से परिवर्तित करता है। हमारे देश की जनजातियों में धर्म सुधार आन्दोलन ने बहुत बड़ा परिवर्तन ला दिया हैं बिहार के आदिवासियों में बिरसा–मुण्डा ने या दक्षिण राजस्थान के आदिवासियों ने गोवन्द गिरी ने धर्म के माध्यम से समाज में क्रांतिकारी परिवर्तन ला दिया। इस धर्म को मानने वाले आदिवासियों ने मांसाहारी भोजन छोड़ दिया है शराब पीना त्याग दिया है और वे अधिक संख्या में पूंजीवादी कृषि व्यवस्था के हिमायती हो रहे है।

लेकिन धर्म द्वारा प्रतिपादित सामाजिक परिवर्तन में शायद मेकस वेबर का प्रोटेस्टेन्ट आचार और पूंजीवादी विकास की थीरिस का उल्लेख करना यहां ज्यादा उचित होगा। मेक्स वेबर जर्मन की एक प्रख्यात विचारक थे। वे कार्ल मार्क्स के सामाजिक परिवर्तन के आर्थिक

कारक से हिम्मत नहीं थे। वेबर ने बताया कि ईसाई धर्म के काल्विनादी सम्प्रदाय में ऐसे विचार थे – ऐसे आचार थे जिन्होंने आधुनिक पूंजीवादी को जन्म दिया। वेबर का यह सैद्धांन्तिक योगदान बताता है कि धर्म एक सांस्कृतिक कारक के रूप से सामाकि परिवर्तन लाने का एक शक्तिशाली हथियार है।

यूरोप में बोर्दियों और दरीदा जैसे विचारकों ने यह प्राक्कल्पना रखी है कि आज के युग में भाषा सबसे अधिक शक्तिशाली कारक है। जो सामाजिक परिवर्तन के लिये उत्तरदायी है। बोर्दियों का तर्क है कि आज के युग में शक्तिशाली राष्ट्र वही है जिसकी भाषा समृद्ध है। यह भाषा ही है जिसमें दुनियाभर के देशों की सूचनाएं संचयी होती है। यही इसी कारण है कि जर्मनी और फ्रांस जैसे देशों में प्राथमिक विद्यालय का विद्यार्थी चार–पांच भाषाओं को अनिवार्य भाषा के रूप में पढ़ता है। यह भाषा ही है जिसमें दुनिया के विभिन्न देशों का ज्ञान संचयी होता है। हमारी ऐसी समझ है कि आज के समाजशास्त्र का, विशेष करके यूरोप का प्रभावी मुहावरा सांस्कृतिक कारक है। यह सांस्कृतिक कारक ही इन समाजों को उत्तर आधुनिकता की ओर खींच लाता है।

एंथोनी गिडेन्स सांस्कृतिक कारकों को उनके वृहद् रूप में देखते है। इन कारकों में नेतृत्व भी एक महत्वपूर्ण कारक है। दुनिया के इतिहास में व्यक्तिगत नेताओं ने भी समाज के बदलाव में महत्वपूर्ण भूमिका दी है।ऐसे व्यक्तियों में हम आर्थिक नेताओं, राजनीतिक व सैनिक अधिकारियों तथा विज्ञान में अविष्कार करने वाले नेतृत्व को सम्मिलित कर सकते है। धार्मिक नेताओं में विश्व स्तर पर ईसा मसीह, बुद्ध, महावीर स्वामी आदि को सम्मलित कर सकते है। राजनीतिक और सैन्य नेताओं में जुलियस सीजर, महात्मा गांधी और विज्ञान के नेताओं में न्यूटन आदि को सम्मिलित कर सकते है। वह नेता जो कोटि–कोटि लोगों को अपना जनाधार बनाकर चलताा है। सामाजिक परिवर्तन का प्रणेता होता है। ई. 1930 को जर्मनी में हिटलर में ऐसे ही नेता का काम किया। हमारे देश में गांधी जी ने रक्तहीन

क्रांति द्वारा ब्रिटिश साम्राज्य को उखाड़ फैंका। दुनिया के इतिहास में ऐसे कई दृष्टान्त है जो बताते है कि सामाजिक परिवर्तन के सांस्कृतिक कारकों में नेतृत्व की अगुआई बहुत महत्वपूर्ण होती है।

भारत में सामाजिक परिवर्तन के स्त्रोत के रूप में एम.एन. श्रीनिवास ने सांस्कृतिक और जातीय गतिशीलता के महत्व पर जोर दिया है। ''एक जाति के सदस्य एक उच्च जाति या इसके कुछ सदस्यों के आदर्शो और व्यवहारों का अनुकरण कर अपनी स्थिति को उच्च कर सकते है। परिवर्तन की इस प्रक्रिया में संस्कृतिकरणीय जातियां उन परम्परागत व्यवसायों और प्रयासों को तिरस्कृत कर देती है जिनके कारण सदियों तक वे निम्न स्तर पर रही। निम्न जातियों के प्रस्थिति–उन्नयन में शिक्षा, वेतनकारी नौकरियों और शहरों की ओर प्रवसन का भी बहुत योगदान रहा है''

जब भी निम्न जातियों ने उच्च जातियों के जजमानों और जमींदारों के प्रति अपने परम्परागत कर्त्तव्यों का उल्लंघन किया है, उच्च और निम्न जातियों के बीच तनाव और झगड़े हुए है। निम्न जातियों के प्रयत्नों के प्रति विरोध प्रकट करने के अतिरिक्त, उच्च जातियों ने पअनी जीवन प्रणालियों, उच्च शिक्षा, लाभ की नौकरियों, नगरीय प्रवसन और राजनीति में दखल आदि द्वारा सामाजिक प्रस्थिति के स्नानापन्न आधार ढूंढ लिये है। इन सबका स्पष्ट परिणाम विभिन्न जाति और वर्ग समूहों के बीच सामाजिक और आर्थिक अंतर की निरन्तरता को बनाये रखना है। भारतीय समाज के दलित वर्गो में चेतना उत्पन्न करने के अलावा, सांस्कृति गतिशीलता सामाजिक परिवर्तन के लिये अव्यक्त अन्तः शक्ति है।

ऑग्बर्न ने सामाजिक परिवर्तन में सांस्कृतिक विलम्बन की प्राक्कलपना को रखा है। इनका कहना है कि किसी भी संस्कृति के दो भाग होते है : भौतिक संस्कृति और अभौतिक संस्कृति। भौतिक संस्कृति से ऑग्बर्न का तात्पर्य अविष्कारों, नवीनीकरणों आरे प्रौद्योगिकी से है। अभौतिक संस्कृति में सामाजिक मानदण्ड, मूल्य, वैचारिकी, विश्वास

परम्परा आदि आते है।

आधुनिक समाज में अविष्कार और प्रौद्योगिकी के विकास की तीव्र होती है। दूसरी ओर इसी गति से अभौतिक संस्कृति में परिवर्तन नहीं आता। इसे ऑग्बर्न सांस्कृतिक विलम्बन कहते है। इसका सीधा अर्थ यह है कि भौतिक परिवर्तन की तुलना में सांस्कृतिक परिवर्तन पिछड़ जाता है। उदाहरण के लिये कोई भी व्यक्ति नयी से नयी कार खरीद सकता है। लेकिन इस गाड़ी की भी एक अभौतिक संस्कृति है। उसे घनी बस्ती में धीरे चलाना चाहिये। स्कूल या ऐसे ही शांतिपूर्ण स्थानों पर हार्न नहीं बजाना चाहिये। सड़ के बायी ओर चलना चाहिए। पार्क करने के निश्चित स्थानों पर गाड़ी रखनी चाहिये। ऐसे कई अन्य अभौतिक पक्ष है। इसमें होता यह है कि भौतिक भाग तो आगे बढ़ जाते है और इस भाग से जुड़ा हुआ अभौतिक भाग यानि संस्कृति पीछे रह जाती है। यह सांस्कृतिक विलम्बन है। विलम्बन के मुख्य लक्षण निम्न है।

1. भौतिक संस्कृति में तीव्र परिवर्तन
2. अभौतिक संस्कृति में परिवर्तन का प्रतिरोध, धीमी गति से परिवर्तन।
3. भौतिक तथा आभौतिक संस्कृति के संतुन का भंग होना।
4. अन्त में,भौतिक संस्कृति का आगे बढ़ जाना और अभौतिक संस्कृति का परिवर्तन के प्रतिरोध अथवा धीमे परिवर्तन के कारण पिछड़ जाना।

सांस्कृतिक विलम्बर की अवधारणाा की आलोचना कई विद्वानों ने की है। इस सिद्धांत पर सामान्य आरोप यह है कि इसमें ऑग्बर्न यह स्पष्ट नहीं करते कि संस्कृति के कौन से तत्व पिछड़ जाते है और कौन से आगे बढ़ जाते है। यह सिद्धांत अपने परिवेश में भी बहुत सीमित है।

(4) आर्थिक प्रभाव :

यह किसी ने नहीं बताया कि पिछले 200 वर्षो में जब यूरोप में आधुनिकता की प्रक्रिया काम कर रही थी, सामाजिक परिवर्तन की गति अधिक तीव्र क्यो रही? वास्तव में यह मुद्छा बहुत जटिल है, फिर भी यह बताना मुश्किल नही है कि इस परिवर्तन में किन कारकों की भूमिका है। यह आवश्चर्यजनक नहीं है कि कुछ ऐसे कारकों का पता लगाया जा सके कि जो इतिहास में सामाजिक परिवर्तन को समझने में सहायक हो। शायद सामाजिक परिवर्तन को गंभीरता से प्रभावित करने वाला कारक आर्थिक है। यह शायद सामाजिक परिवर्तन को गंभीरता से प्रभावित करने वाला आर्थिक है। यह स्वीकार करना पड़ेगा कि आर्थिक स्तर पर सबसे बड़ा प्रभाव औद्योगिक पूंजीवाद का है। पुरानी उत्पादन व्यवस्था की तुलना में औद्योगिक पूंजीवाद बहुत भिन्न था। यह भिन्न इसलिये है कि इसके माध्यम से उत्पादन का बराकर विकास होता रहता है और धन का संचय निरन्तर होता रहता है। देखा जाये तो परम्परागत उत्पादन व्यवस्था में उत्पादन का स्तर लगभग स्थिर रहता था। यह उत्पादन अपनी परम्परागत गति से होता था। आज के औद्योगिक पूंजीवाद में स्थिति दूसरे प्रकार की है। नित्य नयी प्रौद्योगिकी आतीर रहती है और इससे उत्पादन की दर में बराबर परिवर्तन आता है। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है। कि तकनीकी और प्रौद्योगिकी का आज जो विकास हो रहा है। उसने पिछले परम्परगात अर्थ व्यवस्था को पूरी तरह से बदल दिया है।

उदाहरण के रूप में मोटरकार उद्योग को देखें। दो-तीन वर्षो में प्रत्येक उत्पादक अपने कार का नया मॉडल ले आता है। भारत जैसे देश में तो नित्य-नित्य कारें आ रही है। ठीक इसी तरह से सूचना प्रौद्योगिकी में बराबर सुधार आ रहा है। पिछले-15 वर्षो में कम्पयूटर का प्रभाव कोई दस हजार गुणा अधिक हो गया है।

परम्परागत समाजों में उत्पादन स्थानीय हुआ करता था। आज इस स्थिति में भी परिवर्तन आ गया है। सच्चाई यह है कि औद्योगिक पूंजीवाद के विकास के साथ आम लोगों

की जीवन पद्धति में परिवर्तन आ गया है। आज के आधुनिक समाजों में बहुत अधिक लोग गांवों की अपेक्षा शहर में रहना पंसद करते है। आज का यह औद्योगिक पूंजीवाद, वस्तुतः 19वीं शताब्दी के पूंजीवाद का प्रभाव है। भारतीय समाज इस पूंजीवाद के प्रभाव से अछूता हो, ऐसा नहीं है। मार्क्सवादी उपागम का सार भी यह है। कि भारतीय समाज के लिये भौतिक (मूलतः आर्थिक) अवस्थाएं आधारभूत है और इन अवस्थाओं में परिवर्तन से जीवन के अन्य कार्य क्षेत्रों में स्वतः ही अनुरूपी परिवर्तन संभव हो सकेगा। इस दृष्टिकोण की दो मान्यताएं है : (1) उद्योग और कृषि एक दूसरे से जुड़े हुए हैं, (2) भारत में कृषि उत्पादन अपने स्वरूप और अन्तवुर्स्त दोनों में पूंजीवादी हे। इन मान्यताओं को आधारित मानते हुए हमें यह देखने की आवश्यकता है। कि एक समूह या वर्ग से अन्य समूह का वर्ग के पास आर्थिक शक्ति हस्तान्तरित होने से कोई संरचनात्मक परिवर्तन हुआ है या नही। क्या प्रौद्योगिकी उपायों द्वारा परम्परागत असमनताएं (जाति, प्रस्थिति और भू-स्वामित्व पर आधारित असमनताएं) अधिक सुदृढ़ हुई है या उनमें महत्वपूर्ण कमी हुई है?

आर्थिक कारक का भारत के सामाजिक परिवर्तन पर जो प्रभाव पड़ा है, उसकी व्याख्या के.एल.शर्मा ने निम्न शब्दों में की है :

भारत में सामाजिक आर्थिक सरचंना में विषमता और सामाजिक तनाव और संघर्षो की विभिन्नता है। भारत एक ऐसा विकासशील समाज है जिसमें पूर्व-पूंजीवाद सामाजिक कोटियां पूंजीवादी श्रेणियों के साथ पायी जाती है। मार्क्स ने मूलतः औद्योगिक समाज की समस्याओं के बारे में विचार अधिक किया है जबकि भारत को आज भी प्रमुख रूप में कृषक अर्थव्यवस्था और आदिम सामाजिक संरचना मान सकते है। भारत एक बहुत ही जटिल और विभेदीकृत समाज है। कृषक वर्ग में विभेदीकरण स्वरून ने स्थितियों को और भी जटिल बना दिया है। बहुत हद तक कृषि उत्पादन प्रविधि अर्द्ध सामन्तीय, अर्द्ध उपनिवेशयी, अर्द्ध पूंजीवादी और गैर पूंजीवादी या पारम्परिक है। जाति और क्षेत्रीय विस्तार

के साथ विभेद और अधिक बढ़ जाते है। भारत में कृषि के लिये परिवार श्रम आज भी एक वास्तविकता है।

(5) **प्रौद्योगिकी कारक :**

सामाजिक परिवर्तन का एक सशक्त कारक प्रौद्योगिकी है। पाषाण काल के बाद से लेकर कई प्रौद्योगिकीय क्रांतिया हुई है। क्रांतियों के इस क्रम में भाप का इंजिन आया, उसके बाद कोयला आया। कोयले ने बड़े–बडे भीमकाय कारखाने चलाये। इस क्रांति के बाद बिजली आयी और आज हम सूचना के युग के द्वारा पर खड़े है। इन प्रौद्योगिकीय क्रांतियों ने सामाजिक परिवर्तन को निरन्तर नयी दिशा दी है। प्रौद्योगिकी जनित क्रांति ने सामाजिक क्रांति को जन्म दिया। सामाजिक क्रांति का बहुत अच्छा दृष्टान्त थर्सटीन वेबलिन का विलास यानी फुरत का सिद्धांत है। एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका में प्रौद्योगिकी ने कृषि के क्षेत्र में बहुत बड़ा बदलाव पैदा कर दिया है। हमारें यहा अब खेती में पूंजीवादी आ गया है। इस पूंजीवाद का कारण मुख्यतया हरित क्रांति रहा है। प्रौद्योगिकी के कारण यातायात और संचार व्यवस्था में भी परिवर्तन हुए है। विकासशील देशों में विद्युतीकरण और सिचाई के कारण ग्रामीण दृश्यपटल बड़ी सीमत तक परिवर्तित हुआ हैं इन देशों में नये वर्ग और सामाजिक संबंध उभरे है। नये औद्योगिक शहरों के कारण वर्ग संबंधों का एक नया प्रतिमान सामने आया है। भारत में जमशेदपुर भिलाई, राऊरकेला और बेकारों सरीखे शहर औद्योगिकरण की प्रक्रिया के उदाहरण है।

तीसरी दुनिया के देशों में आज जो परिवर्तन हमें देखने को मिल रहे है इनके कारण सामाजिक मूल्यों, मानदण्डों और सामाजिक सरंचना में भारी परिवर्तन आये है। विश्व व्यापीकरण या ग्लोबेलाइजेशन ने आज सम्पूर्ण दुनिया को एक सामाजिक व्यवस्था के रूप में स्थापित करने काप्रयास किया है। कम्पयूटर की इंटरनेट व्यवस्था ने दुनिया के विभिन्न

भागों को एक सूच के बांध दिया है। इस विशाल संसार को एक केपस्यूल रूप में रखने का प्रयास प्रौद्योगिकी के माध्यम से ही हुआ हैं यह कहना अनुचित नही होगा कि सामाजिक औरसांस्कृति परिवर्तन में प्रौद्योगिकरण कारक बहुत अधिक महत्वपूर्ण है।

(6) जनांनकिकीय कारक :

जनांनकिमी के अंतर्गत हम जनसंख्या,पुरूष–स्त्री अनुपात, औसत आयुः, स्थानान्तरण आदि का अध्ययन करते है। तकनीकी भाषा में जनांनकिकी और जनंसख्या में अंतर है। जनानंकिकी के अंनर्गत जनसंख्या का अध्ययन किया जाता है। अपने आप में जनसंख्या का तात्पर्य तो मनुष्यों की गणना से है। इसके अंतर्गत जन्म–मृत्युदर, बीमारी और स्थानान्तरण का अध्ययन होना है, लेकिन जनंसख्या को जब पुरूष–स्त्री, विवाहित–अविवाहिता, बालक–वृद्ध आदि दृष्टियों से देखा जाता है। तो इसे जनानंकिकी कहते है। उदाहरण के लिये भार में स्त्री–पुरूश के अनुपात को देखें तो पुरूषों की तुलना में स्त्रियों की संख्या कम है। शायद इसका कारण यह है कि यहां के लोगों में पुत्र जन्म बहुत बड़ी अभिलाभा हैं पुत्र के बिना परिवार का वंशानुक्रम टूट जाता है। बुढ़ापे का सहारा छिन जाता है। ऐसे ही कुछ कारणों से पुरूषों की तुलना में स्त्रियों की संख्या घट गयी है। जनानंकिकी की यही दिशा रही तो सोचना पड़ेगा कि लोग अपने लड़कों के लिये बहू कहां से लायेंगे? जनसंख्या के कुछ ऐसे पहलू है जो सामाजिक परिवर्तन को प्रभावित करते हैं।

जनसंख्या वृद्धि जिसे हम कई बार जनानंकिकी विस्फोट कहते है, ने भारत ही चीन के सामने भी सामाजिक व्यवस्था के कई नये प्रश्न खड़े कर दिये है। प्रश्न उठता है : तेजी से बढ़ती हुई जनसंख्या के लिये सरकार रोजगार कहां से लायेगी, चिकित्सालय, स्कूल, कॉलेज आदि की व्यवस्था कैसे करेगी? यह प्रश्न एशिया के सभी देशों के सामने एक महत्वपूर्ण प्रश्न है।

जनसंख्या में पाने जाने वाले आयु–समूह भी सामाजिक व्यवस्था को प्रभावित करते है। भारत में बालकों और युवाओं की जनसंख्या सबसे अधिक है। इसका अर्थ हुआ हमें अधिक से अधिक लोगों को रोजगार देना होगा और बच्चों के पढ़ने के लिये विद्यालय खोलने होंगे। स्वास्थ्य की दृष्टि से, औसत आयु के बढ़ने से वृद्ध उम्र समूह की संख्या अधिक है। इस बड़ी जनसंख्या को रोगमुक्त रखने के लिए अधिक चिकित्सालय चाहिये। शहरीकरण और औद्योगिकरण के कारण जनसंख्या का एक निश्चित भाग तेजी से एड्स रोग की चपेट में आ रहा है। इसका बचाव करने के लिए प्रचारतंत्र की आवश्यता है। देखा जाये तो किसी भी देश के सामाजिक परिवर्तन को दिशा देने के लिए जनानंकिकीय नियोजन आवश्यक है।

(7) कानूनी एवं प्रशासनिक कारक :

एशिया और अफ्रीका के देशों ने हाल में प्रजातान्त्रिक व्यवस्था को अपनाया है। इन देशों का बहुत बड़ा उद्देश्य राष्ट्र निर्माण है। अपने इस प्रयास में कई देश कानूनी प्रक्रियाओं द्वारा समाज को बदलना चाहते है। यह सही है। कि इन देशों ने जिनमें भारत अग्रणी है, सामाजिक अधिनियम और कानून तो बहुत बनाये है पर उन्हें अमल में लाने का प्रयास केवल दिखावा मात्र है। हमारे देश में बाल विवाह पर रोक है, फिर भी राजस्थान जैसे राज्य में अक्षय तृतीया पर हजारो जोड़े पर अपनी मां की गोद से चिपक हुए सात फेर फिर जाते है। वस्तुतः सामाजिक अधिनियम के लागू न होने की समस्या प्रशासकिन है। लेकिन कानून का होना राज्य के विधानमण्डल की महत्वाकांक्षा को तो बताता है।

हाल के प्रजातांत्रिक देशों ने भूमि सुधार को लेकर कई कानून बनाये है। भारत में तो बंगाल सरकार के भूमि सुधार कानून सबसे अधिक स्पष्ट और क्रांतिकारी है। यह होते हुए भी भूमि सुधारों का प्रभाव कृषकों पर असमान रूप से पड़ा है। इस कानून के बनने

पर भी भूमिहीन किसानों को कोई लाभ नहीं मिला है। सामाजिक परिवर्तन के क्षेत्र में कानून की निश्चित भूमिका हैं योगेन्द्र सिंह ने कानून के तीन प्रकार्यो का उल्लेख किया है : (1) कानून परिवर्तन का सूचक है। (2) कानून सामाजिक परिवर्तन का प्रवर्तक है और (3) सामाजिक परिवर्तन में समन्वय लाने का काम कानून करता है। योगेन्द्र सिंह कहते है कि भारत में कानून व्यवस्था ऐतिहासिक है। इसकी उपनिवेशक और सामन्तवपादी विरात है। वस्तुतः इस देश का कानून अभिजातपरक कहा जाता है और इसका लाभ सामान्तया अभिजात वर्ग के लोगों और मध्यम वर्गो को मिला है।

यहां यह कहना अनिवार्य है कि श्रीलंका, भारत, पाकिस्तान और बांग्लादेश में जो भी प्रचलित कानून है उसका मूल इन देश का संविधान है। यह संविधान प्रजातान्त्रिक होते हुए भी अपने देश की समस्याओं के अनुकूलन होता है। हमारे देश का संविधान सांस्कृति बहुलवाद, जाति आधारित असमानताओं और सामाजिक–आर्थिक पिछड़ेपन का उल्लेख भी करता है। इन संवैधानिक सुविधाओं के होते हुए भी कई जगह संविधान में विरोधाभास भी है। उदाहरण के लिये, संविधान में कुछ मूल अधिकारों को प्रावधान है परन्तु इन अधिकारों के काम के अधिकार को शामिल नहीं किया है। समाज के निर्धन तबकों के लिये जो आवश्यक है उसे मूल अधिकारों में शामिल नहीं किया गया है।

प्रत्येक देश की अपनी–अपनी सामाजिक समस्याएं होती है। इन समस्याओं की गहनता को देखकर सामाजिक सुधार के लिये कानून बनाया जाता है। खाडत्री के देश कुरान के संदर्भ में मद्यपान को अनैतिक समझते है। इसी कारण कुवैत, ईरान, इराक, सऊदी अरब, पाकिस्तान आदि देखों ने मद्यपान पर पाबंधी लगा दी है लेकिन इन देशों के पति एक एक साथ अधिकतम चार पत्नियों को रख सकता है। इसके लिये उनके यहां कानून है। भारत की समस्या दूसरे प्रकार की है। यहां कुछ समूहों को छोड़कर (जैसे आदिवासी और मुसलमान) हिन्दू जातियों एक ही समय में एक से अधिक पत्नियां नहीं

रख सकती। इसके लिये हिन्दू विवाह अधिनियम 1955 है। दोसे अधिक संतान होने पर माता–पिता को कतिपय सार्वजनिक लाभ से वंचित किया गया है। हम इस तथ्य पर जोर देना चाहते है कि समाज में परिर्वन लाने का बहुत बड़ा स्त्रोत कानून है और कानून की गंगोत्री हमेशा संविधान होती है।

सामाजिक परिवर्तन का एक ओर स्त्रोत प्रशासनिक है। कई बार प्रशासनिक व्यवस्था जब सावधान होती है, सामाजिक परिवर्तन की गति तीव्र हो जाती है। आवश्यकता इस बात की है कि प्रशासकों में परिवर्तन की गति प्रतिबद्धता हो। यदि प्रशासक अपने कर्त्तव्यों की प्रति पांबद हो तो परिवर्तन के प्रभाव अवश्य देखने को मिलते है। हमारे यहां कई राज्यों ने नशाबंदी के प्रयोग किये है लेकिन प्रशासकों की सुस्ती और उनकी भ्रष्टाचार प्रवृत्ति ने इस तरह के प्रयोग को असफल कर दिया है। यह कहा जाता है कि भारत में जितने कानून है।, दुनिया में किसी भी देश में नहीं है। कानून के होते हुए भी जब उनमें अपेक्षित परिणाम नहीं मिलते तो निश्चित रूप से इसके लिसे प्रशासन उत्तरदायी होता है।

6.3 सारांश :

- सामाजिक परिवर्तन एक सामाजिक प्रक्रिया है, जिसकी प्रकृति अनन्त है, जिसका प्रवाह निरन्तर है। इस दृष्टि से यह एक ऐसी सामाजिक प्रक्रिया है जो संसार भर के समाजों में देखने को मिलती है। यहां यह अवश्य कहना चाहिये कि सामाजिक परिवर्तन की गति सार्वभौमिक होकर भी सभी समाजामें में समान नहीं होती।
- सामाजिक परिवर्तन सार्वभौमिक होकर भी कोई न कोई गति लिये होता है। संयुक्त राष्ट्र संघ के एक अनुमान के अनुसार किसी भी तकनीकी में बदलाव सात वर्ष्ज्ञ से दुगना हो जाता है। एक ही समाज तकनीकी क्षेत्र में परिवर्तन की गति तीव्र होती है, उसी में सांस्कृतिक और सामाजिक बदलाव बहुत धीरे आता है।

- सामाजिक परिवर्तन में नियम, सिद्धांत, दिशा और निरन्तरता नहीं पायी जाती है। एक परिस्थिति में प्रारंभ से कुछ कारणों के आधार पर जब निश्चित स्वरूपों में निरन्तर परिवर्तन होता है तो हम इसे प्रक्रिया कहते है। संचार, समाजीकरण, व्यवस्थापन, एकीकरण, विघटन, प्रतियोगिता संघर्ष आदि सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं के उदाहरण है।
- आधुनिकीकरण की अवधारणा में व सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में मूल्यों का भरपूर समावेश होता है। मूल्य और मानदण्ड सामाजिक परिवर्तन के बुनियादी आधार है। सामाजिक परिवर्तन या प्रगति में समाज के कतिपय मूल्य निहित है। प्रगति से हमारा तात्पर्य शिक्षा के प्रसार, तकनीकी या अधिकतम प्रयोग, पूंजीवादी अर्थ व्यवस्थ्ज्ञा, आदि से जुडे हुए मूल्यों से है।
- दुनिया के पहली श्रेणी के समाजों में जिन्होंने विकास के लक्ष्य को प्राप्त कर लिया है औद्योगिक व आधुनिक है और दूसरी श्रेणी के समाज विकास की दौड़ में लगे हुए है ।
- सामाजिक विकास की चार मुख्य कसौटिया है : मात्रा, कुशलता, पारस्परिकता, व स्वतंत्रता ।
- तीव्र गति से होने वाले परिवर्तन को क्रांति कहते हैं। जहां विकास में क्रमबद्ध और निरंतर परिवर्तन होता है, वहां क्राति में तीव्र और अव्यस्थित परिवर्तन होता है। सांस्कृतिक कारकों में धर्म, विचार पद्वति और जन चेतना के प्रभावों को सम्मिलित किया जाता है। यह कहा जाना चाहिये कि धर्म या तो रूढ़िवादी होता है या सामाजिक जीवन में एक नवीनतमक शक्ति होती है। ६
- सामाजिक परिवर्तन का एक सशक्त कारक प्रौद्योगिकी है। पाषाण काल के बाद से लेकर कई प्रौद्योगिकीय क्रांतिया हुई है। क्रांतियों के इस क्रम में भाप का इंजिन

आया, उसके बाद कोयला आया। कोयले ने बड़े–बडे भीमकाय कारखाने चलाये। इस क्रांति के बाद बिजली आयी और आज हम सूचना के युग के द्वारा पर खड़े है। इन प्रौद्योगिकीय क्रांतियों ने सामाजिक परिवर्तन को निरन्तर नयी दिशा दी है। प्रौद्योगिकी जनित क्रांति ने सामाजिक क्रांति को जन्म दिया।

6.4 सूचक शब्द :

सामाजिक परिवर्तन : कृषि और तकनीकी विकास के बाद आज के सूचना विकास तीव्रतम हो गया है। कम्पयूटर सूचनाओं का संग्रहित करने का एक बहुत बड़ा यांत्रिक साधन है। सामाजिक परिवर्तन के परिणाम है समूह के व्यवहार में परिवर्तन, सामाजिक संरचना में परिवर्तन, और सांस्कृतिक विशेषताओं में परिवर्तन।

इतिहासवादी व्याख्या : उत्पादन साधनों और सम्बन्धों में परिवर्तन के साथ समाज इतिहास के एक काल खण्ड से दूसरे काल खण्ड की ओर बढ़ता है।

उद्विकासवादी व्याख्या : विवाह, नातेदारी, राज्य सरकार आदि सामाजिक संस्थाओं के उद्विकास सामान्य गति से होने वाले परिवर्तन का परिणाम है।

सामाजिक सरंचना में परिवर्तन व सामाजिक परिवर्तन : सामाजिक परिवर्तन की केन्द्रीय विशेषता सामाजिक संरचना में होने वाला परिवर्तन है।

सामाजिक परिवर्तन व सांस्कृतिक परिवर्तन : आधुनिकता और कुछ न होकर सांस्कृतिक परिवर्तन का एक पेरेडाइम अर्थात् नमूना है। जहां मानवशास्त्री सामाजिक परिवर्तन को सांस्कृतिक परिवर्तन के रूप में देखते हैं, वहां समाजशास्त्री इसे सामाजिक परिवर्तन की तरह समझते है। संक्षेप में, सामाजिक परिवर्तन की कोख में सांस्कृतिक संबंधों में होने वाले परिवर्तन है जबकि सांस्कृतिक परिवर्तन का मतलब मूल्य, मानक, शिक्षा आदि में होने वाले परिवर्तन से है।

सार्वभौमिक परिवर्तन : सामाजिक परिवर्तन एक सामाजिक प्रक्रिया है, जिसकी प्रकृति अनन्त है, जिसका प्रवाह निरन्तर है। इस दृष्टि से यह एक ऐसी सामाजिक प्रक्रिया है जो संसार भर के समाजों में देखने को मिलती है। यहां यह अवश्य कहना चाहिये कि सामाजिक परिवर्तन की गति सार्वभौमिक होकर भी सभी समाजामें में समान नहीं होती।

सामाजिक परिवर्तन की गति : सामाजिक परिवर्तन सार्वभौमिक होकर भी कोई न कोई गति लिये होता है। संयुक्त राष्ट्र संघ के एक अनुमान के अनुसार किसी भी तकनीकी में बदलाव सात वर्ष्ज्ञ से दुगना हो जाता है। एक ही समाज तकनीकी क्षेत्र में परिवर्तन की गति तीव्र होती है, उसी में सांस्कृतिक और सामाजिक बदलाव बहुत धीरे आता है।

सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया : सामाजिक परिवर्तन में नियम, सिद्धांत, दिशा और निरन्तरता नहीं पायी जाती है। एक परिस्थिति में प्रारंभ से कुछ कारणों के आधार पर जब निश्चित स्वरूपों में निरन्तर परिवर्तन होता है तो हम इसे प्रक्रिया कहते है। संचार, समाजीकरण, व्यवस्थापन, एकीकरण, विघटन, प्रतियोगिता संघर्ष आदि सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं के उदाहरण है।

सामाजिक परिवर्तन में मूल्य बोध : आधुनिकीकरण की अवधारणा में व सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में मूल्यों का भरपूर समावेश होता है। मूल्य और मानदण्ड सामाजिक परिवर्तन के बुनियादी आधार है। सामाजिक परिवर्तन या प्रगति में समाज के कतिपय मूल्य निहित है। प्रगति से हमारा तात्पर्य शिक्षा के प्रसार, तकनीकी या अधिकतम प्रयोग, पूंजीवादी अर्थ व्यवस्थ्ज्ञा, आदि से जुडे हुए मूल्यों से है।

विकास : दुनिया के पहली श्रेणी के समाजों में जिन्होंने विकास के लक्ष्य को प्राप्त कर लिया है औद्योगिक व आधुनिक है और दूसरी श्रेणी के समाज विकास की दौड़ में लगे हुए है ।

सामाजिक विकास की चार मुख्य्ा कसौटिया : सामाजिक विकास की चार मुख्य कसौटिया है

ः मात्रा, कुशलता, पारस्परिकता, व स्वतंत्रता ।

सुधार ः सामाजिक सुधार की अवधारणाा धीरे–धीरे सामाजिक परिवर्तन की ओर बढ़ती रहती है। जब समाज की परम्परागत व्यवस्था को जान–बूझ कर परवर्तित किया जाता है तो यह सुधार है।

क्रांति ः तीव्र गति से होने वाले परिवर्तन को क्रांति कहते हैं। जहां विकास में क्रमबद्ध और निरंतर परिवर्तन होता है, वहां क्राति में तीव्र और अव्यस्थित परिवर्तन होता है। **सांस्कृतिक कारक** ः सांस्कृतिक कारकों में धर्म, विचार पद्धति और जन चेतना के प्रभावों को सम्मिलित किया जाता है। यह कहा जाना चाहिये कि धर्म या तो रूढ़िवादी होता है या सामाजिक जीवन में एक नवीनतमक शक्ति होती है। ६

प्रौद्योगिकी कारक ः सामाजिक परिवर्तन का एक सशक्त कारक प्रौद्योगिकी है। पाषाण काल के बाद से लेकर कई प्रौद्योगिकीय क्रांतिया हुई है। क्रांतियों के इस क्रम में भाप का इंजिन आया, उसके बाद कोयला आया। कोयले ने बड़े–बडे भीमकाय कारखाने चलाये। इस क्रांति के बाद बिजली आयी और आज हम सूचना के युग के द्वारा पर खड़े है। इन प्रौद्योगिकीय क्रांतियों ने सामाजिक परिवर्तन को निरन्तर नयी दिशा दी है। प्रौद्योगिकी जनित क्रांति ने सामाजिक क्रांति को जन्म दिया।

6.5 स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न ः

1. उदाहरण देते हुए सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा के बारे में बताएं।
2. सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया से आप क्या समझते हैं? इस प्रक्रिया पर एक विस्तृत नोट लिखिए।
3. सामाजिक परिवर्तन के कारकों के बारे में विस्तार से बताइए।

6-6 lanfHkZr iqLrdsa %